स्वाध्याय-शिक्षा

आर्शीवचन एव दिशा दर्शन
परम श्रद्धास्पद चारित्र चूडामणी
आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज

सम्पादक मण्डल

डॉ० नरेन्द्र भानावत | प्रो० कन्हैयालाल जी लोढा
श्री धर्मचन्द जी जैन | श्री प्रकाशचन्द जी जैन

सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

सयोजक
ब्रजमोहन जैन

प्रकाशक
सम्यग् ज्ञान प्रचार मण्डल,
जयपुर-३०२ ००३

अनुक्रमणिका

स्वाध्याय-शिक्षा

वन्दना

जयइ सुआण पभवो, तित्थयराण अपच्छिमो जयइ।
जयइ गुरुलोगाण, जयइ महप्पा महावीरो ॥

—नन्दी सूत्र २

—जयवन्त है, श्रुतज्ञान अर्थात् द्वादशागरूप वर्तमान शास्त्र के उत्पत्ति के कारण अर्थात् उनका निर्माण करने वाले तीर्थंकरो मे अपश्चिम—इस अवसर्पिणी काल के २४ तीर्थंकरो मे अन्तिम, लोक के गुरु जयवन्त हैं, महान् आत्मा महावीर सर्वोत्कृष्ट है।

स्वाध्याय-माहात्म्य—

सज्झाए ण भते! जीवे किं जणयइ?

हे भगवन्! स्वाध्याय करने से जीव को क्या लाभ होता है?
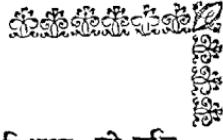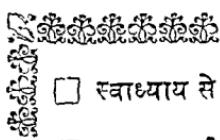
सज्झाएण नाणावरणिज्ज कम्म खवेइ —उत्तराध्ययन सूत्र २६/१८
स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

वर्तमान मे श्रमण भगवान महावीर का धर्मशासन है। इस धर्मशासन के आलम्बन तीर्थंकर केवली नही है। धर्मशासन के सरक्षण और सवर्धन का आधार निर्ग्रन्थ मुनि और आगमवाणी है। मुनिमण्डल और सतीवर्ग की अल्पता के कारण आज आवश्यक हो गया है कि शासन हितैषी श्रावक सिद्धान्त वाणी के विशिष्ट जानकार होकर धर्म-शासन की रक्षा के लिए आगे आवे। आगम ज्ञान के लिए स्वाध्याय प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दे।

स्वाध्याय क्यों ? किसलिये ?

© आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज

- स्वाध्याय से सदसद् का ज्ञान होता है।
- ज्ञान-बल से आत्मा मे स्थिरता और समाधिभाव की वृद्धि होती है।
- स्वाध्याय से मन के सस्कार शुद्ध होते है।

जिज्ञासु बन्धुओ की ओर से प्रश्न होता है कि आज के आर्थिक सामाजिक व्यस्तता भरे जीवन में आध्यात्मिक ग्रंथो के स्वाध्याय का इतना प्रचार क्यो किया जाता है ? इससे व्यक्तिगत और सामूहिक क्या लाभ है ? जब तक स्वाध्याय का प्रयोजन अच्छी तरह स्पष्ट नही हो तब तक पाठको की इस ओर रुचि नही बढ सकेगी। जैन धर्म की हर प्रवृत्ति सहेतु होती है। जैसे कोई भी व्रत-नियम या साधना-आराधना बिना हेतु के नहीं होती वैसे स्वाध्याय भी बिना हेतु के नही है। ससारी जीव अनादि काल से विषय-कषाय और दुर्व्यसनो से भयकर रोग-शोक का कष्ट भोगते हुए भी विषय-कषाय का परित्याग नही कर पाते। बल्कि स्वेच्छा से विष भक्षण कर रहे है। मानव की ज्ञान चेतना दबी हुई है। वह मोह मदिरा मे सत्या-सत्य का भान भूल बैठा है। जब तक मानव की ज्ञान चेतना अनावृत न हो जाय तब तक विचार और आचार की मलिनता नही मिट सकती।

स्वाध्याय ही ऐसा एक अमोघ उपाय है जो ज्ञानावरणीय कर्म के आवरण को काट सकता है। जैनागम उत्तराध्ययन सूत्र मे स्वाध्याय का फल बताते कहा है कि—

सज्झाएण नाणावरणिज्ज कम्म खवेइ। —उत्तरा २९/१८

स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता हे।

दशवैकालिक सूत्र के ९वे विनयसमाधि अध्ययन मे श्रुत अर्थात् स्वाध्याय को भी समाधि का कारण कहा हे।

सर्वप्रथम सम्यक् श्रुत के अध्ययन से जड चेतन का ज्ञान होता है फिर ज्ञान से आत्म तत्व की महिमा और स्वरूप को जान लेने से चित्त-वृत्तियाँ स्वरूप मे स्थिर हो जाती है। ज्ञान बल से स्वय धर्म मे स्थिर होता और दूसरे अस्थिर आत्मा को भी स्थिर करता है। जैसा कि कहा है—

ठिओ पर ठावइस्सामित्ति अज्झाययव्व ।।४।।

स्वाध्याय से शास्त्र का ज्ञान होता है। तत्वाथ का ज्ञान होने से भौतिक पदार्थो से विरक्ति होती है। विरक्ति से स्वय एकाग्र होकर दूसरो को भी स्थिर कर देता है। इसलिए शास्त्रकारो ने स्वाध्याय को सब दु ख दूर करने वाला कहा है।

स्वाध्याय एक दीपक है

अमावस की घोर अँधियारी मे सामने खडा व्यक्ति भी पहचाना नही जाता, वहाँ दीपक की आवश्यकता होती हे, वैसे ही अज्ञान की काली निशा मे इधर-उधर टकराते प्राणी को धर्माधर्म, तत्वातत्व और कर्तव्या-कर्तव्य का बोध पाने के लिए स्वाध्याय के दीपक की आवश्यकता होती है। ससार के करोडो मनुष्य स्वाध्याय के अभाव मे कीडे, मृगे और पशु-पक्षी की तरह धर्महीन जीवन बिताते हुए खुद दु खी होते और दूसरो को भी दुखी करते है। राजनीति कठोरतम दण्ड देकर परिजनो से अलग रख कर अपराधियो को अपराधमुक्त करना चाहती है। सरकार की नीति है—एक की कठोर यातना देखकर दूसरे वैसा अपराध नही करेगे। परन्तु इतिहास बताता है कि दण्डनीति के विकास के साथ ही अपराध और अपराधियो की सख्या भी शिक्षा और विज्ञान के सहयोग से नित नये रग दिखा रही है। आज तो अपराधी को दण्ड का भय ही कम हो रहा है। मरने को खेल समझा जा रहा है। दूसरो की हत्या करके खुद को गोली मारने वालो की कमी नही है। क्योकि दण्ड से अपराधियो का मन नही बदला।

सद्ग्रथो के स्वाध्याय से प्राप्त धार्मिक सस्कार मन पर असर करते है। इससे आदमी की भावना मे परिवर्तन होता है। हजारो हत्यारे चोर-डाकू का धन्धा छोडकर भगवत् भक्ति के सात्विक मार्ग पर अग्रसर हो जाते है। वर्तमान मे सर्वोदयी कार्यकर्ताओ के प्रचार से चम्बल घाटी के कई अपराधी भी अपराधमुक्त जीवन यापन करते है। और गीता,

स्वाध्याय क्यों ? किसलिये ?

❁ आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज

- स्वाध्याय से सदसद् का ज्ञान होता है।
- ज्ञान-बल से आत्मा में स्थिरता और समाधिभाव की वृद्धि होती है।
- स्वाध्याय से मन के संस्कार शुद्ध होते हैं।

जिज्ञासु बन्धुओं की ओर से प्रश्न होता है कि आज के आर्थिक सामाजिक व्यस्तता भरे जीवन में आध्यात्मिक ग्रंथों के स्वाध्याय का इतना प्रचार क्यों किया जाता है ? इससे व्यक्तिगत और सामूहिक क्या लाभ है ? जब तक स्वाध्याय का प्रयोजन अच्छी तरह स्पष्ट नहीं हो तब तक पाठकों की इस ओर रुचि नहीं बढ सकेगी। जैन धर्म की हर प्रवृत्ति सहेतु होती है। जैसे कोई भी व्रत-नियम या साधना-आराधना बिना हेतु के नहीं होती वैसे स्वाध्याय भी बिना हेतु के नहीं है। संसारी जीव अनादि काल से विषय-कषाय और दुर्व्यसनों से भयंकर रोग-शोक का कष्ट भोगते हुए भी विषय-कषाय का परित्याग नहीं कर पाते। बल्कि स्वेच्छा से विष भक्षण कर रहे हैं। मानव की ज्ञान चेतना दबी हुई है। वह मोह मदिरा में सत्यासत्य का भान भूल बैठा है। जब तक मानव की ज्ञान चेतना अनावृत न हो जाय तब तक विचार और आचार की मलिनता नहीं मिट सकती।

स्वाध्याय ही ऐसा एक अमोघ उपाय है जो ज्ञानावरणीय कर्म के आवरण को काट सकता है। जैनागम उत्तराध्ययन सूत्र में स्वाध्याय का फल बताते कहा है कि—

सज्झाएण नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ। —उत्तरा २९/१८

स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है।

दशवैकालिक सूत्र के ६वे विनयसमाधि अध्ययन मे श्रुत अर्थात् स्वाध्याय को भी समाधि का कारण कहा है।

सर्वप्रथम सम्यक् श्रुत के अध्ययन से जड चेतन का ज्ञान होता है फिर ज्ञान से आत्म तत्व की महिमा और स्वरूप को जान लेने से चित्त-वृत्तियाँ स्वरूप मे स्थिर हो जाती है। ज्ञान बल से स्वय धर्म मे स्थिर होता और दूसरे अस्थिर आत्मा को भी स्थिर करता है। जैसा कि कहा है—

ठिओ पर ठावइस्सामित्ति अज्झाययव्व ।।४।।

स्वाध्याय से शास्त्र का ज्ञान होता है। तत्वार्थ का ज्ञान होने से भौतिक पदार्थो से विरक्ति होती है। विरक्ति से स्वय एकाग्र होकर दूसरो को भी स्थिर कर देता है। इसलिए शास्त्रकारो ने स्वाध्याय को सब दु ख दूर करने वाला कहा है।

स्वाध्याय एक दीपक है

अमावस की घोर अँधियारी मे सामने खडा व्यक्ति भी पहचाना नही जाता, वहाँ दीपक की आवश्यकता होती है, वैसे ही अज्ञान की काली निशा मे इधर-उधर टकराते प्राणी को धर्माधर्म, तत्वातत्व और कर्तव्या-कर्तव्य का बोध पाने के लिए स्वाध्याय के दीपक की आवश्यकता होती है। ससार के करोडो मनुष्य स्वाध्याय के अभाव मे कीडे, मूगे और पशु-पक्षी की तरह धर्महीन जीवन बिताते हुए खुद दु खी होते और दूसरो को भी दुखी करते है। राजनीति कठोरतम दण्ड देकर परिजनो से अलग रख कर अपराधियो को अपराधमुक्त करना चाहती है। सरकार की नीति है—एक की कठोर यातना देखकर दूसरे वैसा अपराध नही करेगे। परन्तु इतिहास बताता है कि दण्डनीति के विकास के साथ ही अपराध और अपराधियो की सख्या भी शिक्षा और विज्ञान के सहयोग से नित नये रग दिखा रही है। आज तो अपराधी को दण्ड का भय ही कम हो रहा है। मरने को खेल समझा जा रहा है। दूसरो की हत्या करके खुद को गोली मारने वालो की कमी नही है। क्योकि दण्ड से अपराधियो का मन नही बदला।

सद्ग्रथो के स्वाध्याय से प्राप्त धार्मिक सस्कार मन पर असर करते है। इससे आदमी की भावना मे परिवर्तन होता है। हजारो हत्यारे चोर-डाकू का धन्धा छोडकर भगवत् भक्ति के सात्विक मार्ग पर अग्रसर हो जाते है। वर्तमान मे सर्वोदयी कार्यकर्ताओ के प्रचार से चम्बल घाटी के कई अपराधी भी अपराधमुक्त जीवन यापन करते है। और गीता,

रामायण आदि सद्ग्रन्थो का पाठ करते हुए शान्ति से अपना सुखमय समय बिता रहे है।

सत्साहित्य के पठन-पाठन और सत्सग से हजारो विदेशी भी मासाहार का परित्याग कर शुद्ध शाकाहारी जीवन बिता रहे हैं। वहाँ भी शाकाहार का प्रचार करने वालो की कई सस्थाएँ चल रही है। यह परिवर्तन सत्सग और स्वाध्याय का ही फल है। भारत देश जो किसी दिन राम, कृष्ण और महावीर की तपोभूमि था, यहाँ के निवासी लाखो की सख्या मे आज आर्यसस्कृति को भूल कर मास, मछली और शराब का स्वय बेछूट इस्तेमाल करने और दूसरो मे प्रचार करते है। ऐसा क्यो ? तो कहना होगा कि हमारी शिक्षा और सगति बदल गई। स्वाध्याय का स्थान सिनेमा ने ले लिया। सरकार और उसके प्रचार साधन भी इसी प्रकार का प्रचार करते है। ऐसे समय मे देश की पवित्र सस्कृति, अहिसा सत्य और सदाचार का यदि रक्षण करना है तो धर्मप्रेमी जनता को अपने कदमो पर खडे होकर घर-घर और गाँव-गाँव सद् साहित्य के स्वाध्याय का सगठित रूप से प्रचार प्रसार करना होगा। ऋषियो ने कहा है कि— "**स्वाध्यायान्मा प्रमद ।**" अर्थात् स्वाध्याय मे प्रमाद मत करो। स्वाध्याय का महत्व जैन-जैनेतर सभी सम्प्रदायो ने स्वीकार किया है। समाज मे धार्मिक सस्कारो को कायम रखने के लिए स्वाध्याय ही एकमात्र स्थाई साधन है।

हिन्दू समाज—वेद और गीता, मुस्लिम समाज—कुरान, इसाई—बाईबल, बौद्ध त्रिपिटक आदि का नित्य अध्ययन करते है वैसे ही जैन समाज के लिए भी आगम शास्त्र का नित्य स्वाध्याय आवश्यक है।

जैनाचायो ने गृहस्थ के षट् कर्मो से देवभक्ति और गुरु सेवा के समान स्वाध्याय को भी अनिवार्य माना है। जैसा कि कहा है—

देवार्चा गुरुशुश्रूषा, स्वाध्याय सयम तप।
दान चेति गृहस्थाना, षट्कर्माणि दिने दिने ॥

गृहस्थ के लिए देवभक्ति १, गुरुसेवा २, स्वाध्याय ३, सयम ४, तप ५ और दान ६ इन षट्कर्मो को नित्य करणीय कहा है।

शरीर को अन्न जल की तरह आत्म-पोषण के लिए स्वाध्याय आदि का आराधन करना चाहिए। अन्न के बिना तन की तरह स्वाध्याय के बिना मन का दुर्बल होना निश्चित है।

१ स्वाध्याय धर्मस्थान का प्राण और घर का दीपक है। धर्म गुरुओ की अनुपस्थिति मे भी स्वाध्याय गुरु की शिक्षा को याद दिलाता है।

२ स्वाध्याय श्रद्धा को पुष्ट करने वाला है। स्वाध्याय धर्मध्यान का प्रमुख आलम्बन और चित्तशुद्धि का कारण है। स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है। अत विद्वानो ने कहा है कि विद्या गुरुणा गुरु। विद्या गुरु का भी गुरु है।

चपा नगरी के सुबुद्धि प्रधान ने राजा जितशत्रु को धर्म का उपदेश देकर श्रावक बना लिया। राजा उसको अपना उपकारी गुरु मानने लगा। यह स्वाध्याय का ही फल है।

साधु-साध्वियो के लिए तो दिन रात के प्रथम और चतुर्थ प्रहर मे स्वाध्याय का शास्त्रीय खुला विधान है। परन्तु श्रावक भी सूत्र या अर्थ रूप से शास्त्र वाणी का प्रतिदिन पठन-पाठन करे, यह जरूरी बताया गया है।

वर्तमान काल मे स्वाध्याय की रुचि कम होने से समाज धर्म से अनभिज्ञ होता जा रहा है। अत समाज को फिर स्वाध्यायशील बनाने के लिए जिनशासन के हितैषी सन्तो ने व्यापक रूप से सद् साहित्य के स्वाध्याय की प्रेरणा और प्रचार प्रसार को तेज किया है।

□□

कथा चार प्रकार की

चउव्विहा कहा पण्णत्ता—

१ अक्खेवणी	२ विक्खेवणी
३ सवेयणी	४ णिव्वेदणी

—स्थानाग सूत्र ४। सूत्र २४२

कथा चार प्रकार की कही गई—

१ आक्षेपणी—ज्ञान और चारित्र के प्रति आकषण उत्पन्न करने वाली कथा

२ विक्षेपणी—सन्मार्ग की स्थापना करने वाली कथा

३ सवेजनी—जीवन की नश्वरता और दुख बहुलता तथा शरीर की अशुचिता दिखाकर वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा

४ निर्वेदनी—कृत कर्मो के शुभाशुभ फल दिखला कर समार के प्रति उदासीन बनाने वाली कथा

('आगम मुक्ता' से साभार)

स्वाध्याय ही चक्षु है

—मुनिश्री कन्हैयालाल जी 'कमल'

स्वाध्याय चक्षु है, अपनी आँख है इसलिए स्वय स्वाध्याय करो।

उज्जयिनी नगरी मे "सोमिल' नाम का एक व्यक्ति रहता था। वह अधा हो गया था। उसके आठ पुत्र थे, आठ पुत्रवधुएँ थी! पुत्रो ने कहा—आँखो की शल्य-चिकित्सा (आपरेशन) करवाले। सोमिल ने कहा—तुम्हारी, तुम्हारी बहुओ की, तुम्हारी माता की तथा स्वजन-परिजनो की आँखे है, मेरे लिए पर्याप्त है।

एक दिन घर मे आग लग गई। सभी प्राण बचाने के लिए भागे। पर उसे निकालना भूल गये। वह रोता-कलपता घर में ही जल मरा।

गुरु ने कहा—शिष्यो! यदि तुम स्वय स्वाध्याय नही करोगे और दूसरो के स्वाध्याय से ही लाभ उठाना चाहोगे तो प्रमाद में पडे-पडे इस ससार-दावानल मे दग्ध हो जाओगे। क्योकि स्वाध्याय ही ससार दावानल से बचाने वाला चक्षु है।

किसी बीमारी के कारण शरीर मे अत्यन्त दुर्बलता/अशक्तता आ जाने पर चिकित्सक रोगी को ग्लूकोज आदि की बोतल चढाता है। जिससे रोगजन्य प्रभाव भी कम हो जाता है, और रोग से लडने की क्षमता (प्रतिकार शक्ति) भी प्राप्त होती है।

अज्ञान एव कुसस्कारो से ग्रस्त आत्मा को भी स्वाध्याय रूपी ग्लूकोज चढाने से मोह एव कषायो की उग्रता कम होती है। राग-द्वेष के कुसस्कारो की कटुता का दुष्प्रभाव कम होता है तथा विकल्प एव वासना रूप रोगो से लडने के लिए स्थिरता तथा समाधि रूप शक्ति प्राप्त होती है।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

दुःख मुक्ति का उपाय

साधनामय जीवन के विकास मे स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग का वडा महत्व है। अत यहाॅ इन पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है—

स्वाध्याय शब्द स्व और अध्याय इन दो पदो के मेल से बना है। स्व का अर्थ है, अपना ओर अध्याय का अर्थ है—अध्ययन करना, जानना अर्थात् "स्वय को जानने की क्रिया" स्वाध्याय है।

'स्व' वह है जो सदा साथ रहे, कभी अलग न हो, जो साथ न रहकर अलग हो जाता है, उसे अन्य या पर कहा जाता है। जो अन्य नही है, अनन्य है, वही 'स्व' हे। इस दृष्टि मे विचार करें तो जिस धन, धाम, पत्नी व परिजन को अपना मानते है, वे भी पर ही है, अन्य ही हैं, क्योकि जीवन मे किसी भी समय अथवा मृत्यु आने पर इनका साथ छूट ही जाता है। यही वात शरीर पर भी घटित होती है, अत धन, जन ही नही तन भी पर ही हे।

जीव ज्ञान स्वभाव वाला है, अत जानने का कार्य अर्थात् कोई न कोई विचार निरन्तर चलता रहता है। जानने का यह कार्य तव तक प्रतिक्षण चलता रहता है, जव तक कि कुछ भी जानना शेष है। जव कुछ भी जानना शेष नही रहता अर्थात् अशेष ज्ञान हो जाता है, तो जानने का कार्य समाप्त होता है, अशेष ज्ञान होना ही सर्वज्ञता है।

स्वाध्याय त्रय

□ प्रा. कन्हैयालाल लोढा एम. ए.

विचारणीय तो यह है कि जीव अनन्त काल से बराबर जानने या विचारने का कार्य करता आया है। परन्तु जानने का कार्य अभी तक पूरा नही हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव की "जानने की क्रिया" सही नही है। क्योकि सही क्रिया वह है, जो सफल हो अर्थात् जिसके करने

स्वाध्याय ही चक्षु है

—मुनिश्री कन्हैयालाल जी 'कमल'

स्वाध्याय चक्षु है, अपनी आँख है इसलिए स्वय स्वाध्याय करो।

उज्जयिनी नगरी मे "सोमिल' नाम का एक व्यक्ति रहता था। वह अधा हो गया था। उसके आठ पुत्र थे, आठ पुत्रवधुएँ थी। पुत्रो ने कहा—आँखो की शल्य-चिकित्सा (आपरेशन) करवाले। सोमिल ने कहा—तुम्हारी, तुम्हारी बहुओ की, तुम्हारी माता की तथा स्वजन-परिजनो की आँखे है, मेरे लिए पर्याप्त है।

एक दिन घर मे आग लग गई। सभी प्राण बचाने के लिए भागे। पर उसे निकालना भूल गये। वह रोता कलपता घर मे ही जल मरा।

गुरु ने कहा—शिष्यो! यदि तुम स्वय स्वाध्याय नही करोगे और दूसरो के स्वाध्याय से ही लाभ उठाना चाहोगे तो प्रमाद मे पडे-पडे इस ससार-दावानल मे दग्ध हो जाओगे। क्योकि स्वाध्याय ही ससार दावानल से बचाने वाला चक्षु है।

किसी बीमारी के कारण शरीर मे अत्यन्त दुर्बलता/अशक्तता आ जाने पर चिकित्सक रोगी को ग्लूकोज आदि की बोतल चढाता है। जिससे रोगजन्य प्रभाव भी कम हो जाता है, और रोग से लडने की क्षमता (प्रतिकार शक्ति) भी प्राप्त होती है।

अज्ञान एव कुसस्कारो से ग्रस्त आत्मा को भी स्वाध्याय रूपी ग्लूकोज चढाने से मोह एव कषायो की उग्रता कम होती है। राग द्वेष के कुसस्कारो की कटुता का दुष्प्रभाव कम होता है तथा विकल्प एव वासना रूप रोगो से लडने के लिए स्थिरता तथा समाधि रूप शक्ति प्राप्त होती है।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

साधनामय जीवन के विकास मे स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग का बडा महत्व है। अत यहाँ इन पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है—

स्वाध्याय शब्द स्व ओर अध्याय इन दो पदो के मेल से बना है। स्व का अर्थ है, अपना और अध्याय का अर्थ है—अध्ययन करना, जानना अर्थात् "स्वय को जानने की क्रिया" स्वाध्याय है।

'स्व' वह है जो सदा साथ रहे, कभी अलग न हो, जो साथ न रहकर अलग हो जाता है, उसे अन्य या पर कहा जाता है। जो अन्य नही है, अनन्य है, वही 'स्व' है। इस दृष्टि मे विचार करें तो जिस धन, धाम, पत्नी व परिजन को अपना मानते है, वे भी पर ही है, अन्य ही हैं, क्योकि जीवन मे किसी भी समय अथवा मृत्यु आने पर इनका साथ छूट ही जाता हे। यही बात शरीर पर भी घटित होती है, अत धन, जन ही नही तन भी पर ही हे।

जीव ज्ञान स्वभाव वाला है, अत जानने का कार्य अर्थात् कोई न कोई विचार निरन्तर चलता रहता है। जानने का यह कार्य तब तक प्रतिक्षण चलता रहता है, जब तक कि कुछ भी जानना शेष है। जब कुछ भी जानना शेष नही रहता अर्थात्

दुःख मुक्ति का उपाय

स्वाध्याय त्रय

□ प्रा. कन्हैयालाल लोढा एम. ए.

अशेष ज्ञान हो जाता है, तो जानने का कार्य समाप्त होता है, अशेष ज्ञान होना ही सर्वज्ञता है।

विचारणीय तो यह है कि जीव अनन्त काल से बराबर जानने या विचारने का कार्य करता आया है। परन्तु जानने का कार्य अभी तक पूरा नही हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव की "जानने की क्रिया" सही नही है। क्योकि सही क्रिया वह है, जो सफल हो अर्थात् जिसके करने

ने उद्देश्य या लक्ष्य की प्राप्ति हो जावे, फिर कुछ करना शेष न रहे। जिस क्रिया के करने से कार्य मे सफलता न मिले, उस क्रिया का करना व्यर्थ या मिथ्या है, वह क्रिया सही नही है। जैसे सही दवा का उपचार वह है, जिससे रोग मिट जावे, दवा और उपचार करने की आवश्यकता न रहे। इसी प्रकार जानने या चिंतन की सही क्रिया वह है, जिससे जिज्ञासा की पूर्ति हो जाय, जानना शेष न रहे।

अनन्तकाल से जानने की क्रिया या प्रयत्न बराबर करते रहने पर भी अभी तक अज्ञानता ज्यो की त्यो विद्यमान है। इससे यह परिणाम निकलता है कि जानने की क्रिया सही (सम्यक्) रूप मे नही हो रही है। और यही वास्तविकता भी है। कारण कि हमने जब भी जानने का प्रयत्न किया तब उसी को जानने का प्रयत्न किया जो पर है, अन्य है, नश्वर है। परन्तु स्व को, शाश्वत को, ध्रुव को जानने का प्रयत्न ही नही किया, अर्थात् स्वाध्याय कभी नही किया। स्वाध्याय के नाम पर पर का या अन्य का अध्ययन ही किया है, क्योकि पर को ही स्व (निज) रूप मान रहे हैं। इसी भूल के परिणाम से प्राणी दुखी हो रहे है, ससार परिभ्रमण व जन्म-मरण कर रहे हैं। अत इस भूल का अन्त करना अति आवश्यक है। इस भूल का अन्त तब ही सम्भव है, जब स्व और पर के यथार्थ स्वरूप को समझा जाये, स्व को पर से भिन्न समझा जाय। जैसा कि आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश मे कहा है—

> **जीवोऽन्य पुद्गलाश्चान्य इत्यसौ तत्वसग्रह ।**
> **यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तर ॥**
>
> —इष्टोपदेश ५० ॥

अर्थात् जीव पौद्गलिक शरीर से भिन्न है और पुद्गल जीव से भिन्न है। यही ज्ञान तत्व का सग्रह है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब इसी का विस्तार है।

पर से स्व का, अनुभव के स्तर पर भिन्नता का साक्षात्कार करना या दर्शन करना जैनदर्शन मे भेद-विज्ञान कहा गया है। इससे ग्रन्थिभेदन होता है। पर के साथ स्व का बन्धन (सम्बन्ध) होना ही ग्रन्थि है। इस ग्रन्थि के भेदन का अनुभव ही सम्यग्ज्ञान है, सच्चा स्वाध्याय है।

भेदविज्ञान से जैसे-जैसे पर के सम्बन्ध का छेदन होता जाता है, वैसे वैसे साधक स्वत स्व मे स्थित (स्थिर) होता जाता है, अर्थात् स्व-स्थ होता जाता है। स्व-स्थ होना ही ध्यान है। स्वाध्याय से ध्यान की सिद्धि

होती है। और ध्यान से कायोत्सर्ग (देहातीत अवस्था) की सिद्धि होती है। स्व-स्थ होना निरोगता, निर्विकारता का द्योतक है। विकार का ही दूसरा नाम पाप या दुष्कर्म है। विकार भाव का दूर करना पाप भाव का दूर करना है। अपाप भाव होना है। विकार ही अपना अरि है, वैरी है। अत विकारो से त्राण पाना ही सच्चा त्राण है। विकार का क्षय ही पाप का या कर्ममल का क्षय है। इसी तथ्य को दशवैकालिक सूत्र मे बडे सुन्दर रूप मे कहा है—

> सज्झाय सुज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे-रयस्स।
> विसुज्झई जसि मल पुरेकड, समीरिय रूप्पमल व जोइणा॥
>
> —दशवै० अ० ८ गाथा ६३

अर्थात् जैसे अग्नि से तपाये जाने से चाँदी-सोने का मल शुद्ध होता है, वैसे ही स्वाध्याय और ध्यान मे रत रहने रूप तप मे अपापभाव वाले के पूर्वकृत कर्ममल विशुद्ध हो जाता है।

किसी विषय या वस्तु के अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उसमे सम्बन्ध स्थापित किया जाये। यही बात स्वाध्याय के लिए भी चरितार्थ होती है। स्वाध्याय है, स्व का अध्ययन करना। स्व के अध्ययन के लिए स्व से जुडना आवश्यक है। स्व से जुडना तभी सम्भव है, जब पर का जोड (जुडना) छोडे, पर का सम्बन्ध तोडे। पर से जोड होने का कारण है, पर से सुख का भोग करना। पर से सुख चाहने से पर से सबन्ध स्थापित होता है। जिससे पर की चर्चा, पर का चिन्तन, पर की चाह, पर की प्राप्ति की प्रवृत्ति होती है। पर की चर्चा, चिन्तन, चाह व प्रकृति पराध्याय है। आगम मे पर की चाह, व चिन्तन को आर्तध्यान और पर की चर्चा को विकथा कहा है तथा आर्तध्यान और विकथा साधक के लिए त्याज्य कहा है। पर की चाह, चिन्तन व चर्चा रूप पराध्याय के त्याग से स्वत स्व (आत्म) चिन्तन और स्व (आत्म) चर्चा होने लगती है। (स्व-चिन्तन, स्व-चर्चा, अर्थात् आत्म-चिन्तन और आत्म-चर्चा स्वाध्याय है)।

स्व-चर्चा और स्व-चिन्तन से स्व मे स्थिरता रूप ध्यान की सिद्धि होती है। इस दृष्टि से स्व-चर्चा और स्व-चिन्तन रूप स्वाध्याय का साधना के क्षेत्र मे बडा महत्व है। पर जब तक स्व-चर्चा और स्व-चिन्तन रूप स्वाध्याय है, तब तक ध्यान नही होता। कारण कि चर्चा मे जिह्वा और चिन्तन मे मन का आश्रय लेना पडता है। जिह्वा और मन भी प

(विनाशी) हैं। अत इनका आश्रय पराश्रय है। जहाँ पराश्रय है, वहाँ स्व मे स्थित (स्थिर) होना नही है, अर्थात् ध्यान नही है। फिर भी स्वचर्चा और स्व-चिन्तन रूप स्वाध्याय का महत्व कम हो, सो बात नही है, इसे एक उदाहरण से समझे—

जैसे किसी व्यक्ति को धूम्रपान या मदिरा सेवन से शारीरिक रोग (विकार) उत्पन्न हुआ, वह अस्वस्थ हो गया। उस व्यक्ति के लिए वह रोग (विकार) बुरा है, हेय है, त्याज्य है। उस विकार को दूर करने के लिए औषधि सेवन आवश्यक है। इस दृष्टि से औषधि उपादेय है, औषधि का महत्व है, परन्तु जब वह विकार मिट जाता है, अर्थात् व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है तो उसे औषधि लेने की आवश्यकता नही रहती, फिर औषध न लेने मे ही उसका हित है। इसी प्रकार व्यक्ति विषय-विकार मे ग्रस्त है, उसमे चर्चा और चिन्तन का राग है, तब तक उसके लिए पर-चर्चा और पर-चिन्तन रूप राग की मदिरा से हटकर परहेज कर स्व-चर्चा और स्व-चिन्तन रूप स्वाध्याय औषधि का सेवन आवश्यक है, यह साधनावस्था है। जब स्वाध्याय औषधि के फलस्वरूप स्व-स्थ (ध्यान) अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब स्व-चिन्तन स्व-चर्चा रूप औषधि सेवन करने की आवश्यकता नही रहती। इस प्रकार स्वाध्याय से ध्यान की उपलब्धि होती है। स्वाध्याय कारण है, और ध्यान कार्य।

ध्यान का अर्थ है चित्त को सर्व ओर से हटाकर स्व मे स्थित करना। स्व का दर्शन करना। स्व का दर्शन करना ही सत्य का दर्शन करना है। सत्य अर्थात् जो जैसा है, उसके वास्तविक स्वरूप ही का अनुभव करना। और उस अनुभव के प्रभाव से राग-द्वेषादि दोषो से दूर होना, सत्य का दर्शन ही सम्यग्दर्शन है। ध्यान मे चित्त शान्त और समत्व भाव को प्राप्त होता है जिससे शरीर के ऊपरी एव भीतरी भाग और उन पर होने वाली सवेदनाओ का अनुभव होता है। तो वहाँ पर सतत् उत्पाद-व्यय स्पष्ट अनुभव होता है, चित्त को देखने पर यह उत्पाद-व्यय और भी अधिक द्रुतगामी से होता हुआ अनुभव होता है। ध्यान मे जितना-जितना समता व सूक्ष्मता के क्षेत्र की गहराई मे प्रवेश होता जाता है, यह उत्पाद-व्यय उतनी ही अधिक शीघ्रता मे होता हुआ अनुभव होता जाता है। यहाँ तक कि एक पल मे लाखो करोडो बार से भी अधिक उत्पाद-व्यय होता दिखाई देता है। जो इतना परिवर्तनशील नश्वर है, जिसका अस्तित्व क्षण भर के लिए भी नही है। ऐसे क्षणभगुर शरीर व ससार के प्रति

कौन पुरुष राग, द्वेष, मोह करना पसन्द करेगा? अर्थात् कोई नही करेगा।

अत बुद्धिमान प्रज्ञावान पुरुष उत्पाद-व्यय जगत से अपने को भिन्न ध्रुव अनुभव कर शरीर, ससार, परिवार आदि के प्रति राग-द्वेष-मोह छोडकर स्वानुभव की ओर बढता जाता है। यही स्वानुभव की वृद्धि सच्चे अर्थ मे ध्यान है। जब सर्व पर या अन्य पदार्थों और सूक्ष्म शरीर से भी सम्बन्ध छूट जाता है, तो पूर्ण स्वानुभव हो जाता है, यही पूर्ण कायोत्सर्ग रूप साधना की परिसमाप्ति है। यही सर्वज्ञता की प्राप्ति है। इस प्रकार ध्यान कायोत्सर्ग पर से भी हटने, निवृत्त होने रूप से सयम या सवर है, और ग्रन्थियो (कर्मो) के तोडने—क्षय करने के रूप मे निर्जरा है। इसलिए ही स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग को निर्जरा के आभ्यतर भेदो मे स्थान दिया गया है। सवर और निर्जरा रूप होने से ये साधना है, धर्म है।

साधक का साध्य है, दु ख से आत्यतिक मुक्ति, अविनाशी सुख की उपलब्धि। सुख का कारण है, शरीर और ससार (लोक) से अतीत होना अर्थात् देहातीत और लोकातीत होना। स्व मे स्थित होना ससार से परे हटना है। लोकातीत होना है। स्व मे स्थित होने रूप ध्यान का परिणाम है कायोत्सर्ग अर्थात् देहातीत होना।

इसीलिए कायोत्सर्ग को कर्म निर्जरा की साधना—आभ्यतर तप मे चरम स्थान दिया गया है। इस प्रकार स्वाध्याय से ध्यान की और ध्यान से कायोत्सर्ग की सिद्धि होती है। ध्यान से लोकातीत और कायोत्सर्ग से देहातीत अवस्था की उपलब्धि मे कारणभूत है। आत्यतिक रूप मे लोकातीत और देहातीत होना ही मुक्ति है। सिद्धत्व की प्राप्ति है। आतरिक स्वस्थता का सुख विषय-विकार के सुख से निराला है। स्व (अविनाशी) मे प्रकट होने से अविनाशी है। इसमे भी अनन्त गुणा अक्षय सुख मुक्ति का है।

इस प्रकार स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग साधना से शरीर, ससार, तथा दु ख से मुक्ति एव शान्ति, स्वस्थता, अक्षय अव्याबाध सुख की उपलब्धि होती है।

□□

पंचमुखी स्वाध्याय दीपक

पचमुखी दीपक की यह विशेषता है कि उसमे चार बाती चारो ओर तर्फ तथा एक बाती ऊर्ध्वमुखी होने से चारो दिशाओ मे भी आलोक फैल जाता है और ऊपर भी। यो दीपक के परि-पार्श्व मे सम्पूर्ण आलोक छवि व्याप्त हो जाती हे। स्वाध्याय रूप पचमुखी दीपक की भी यही विशेषता है। यह जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है। विवेक के आलोक से जगमगा देता है।

—सम्पादक

स्वाध्याय का स्वरूप, प्रकार और लाभ

सज्झाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?
हे भगवन् ! स्वाध्याय करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

सज्झाएण नाणावरणिज्ज कम्म खवेइ।
स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

(१) वायणाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?
हे भगवन् ! वाचना करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

वायणाएण निज्जर जणयइ। सुयस्स व अणुसज्जणाए अणासाय-णाए वट्टए। सुयस्स अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टमाणे तित्थ-धम्म अवलम्बइ। तित्थ धम्म अवलम्बमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ।

सूत्र पाठ की वाचना देने या ग्रहण करने से जीव कर्मो की निर्जरा करता है, और वाचना से वाचक का, श्रुत के साथ अनुकूल सम्बन्ध होता है। और स्वाध्यायी अनाशातना रूप विनय मे प्रवर्तमान होता है। जब श्रुत भक्ति और अनाशातना रूप विनय मे प्रवर्तमान होता है, तब तीर्थ-

धर्म का अवलम्बन करते हुए स्व-पर के लिए महती निर्जरा और महान ससार का अन्त करने वाला होता है।

(२) पडिपुच्छणयाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

हे भगवन् ! प्रतिपृच्छा करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

पडिपुच्छणयाए ण सुत्तत्थ-तदुभयाइ विसोहेइ। कखामोहणिज्ज कम्म वोच्छिन्दइ।

प्रतिपृच्छा करने से जीव सूत्र, अर्थ और तदुभय को अक्षर, मात्रा आदि से शुद्ध करता और काक्षा मोहनीय कर्म का नाश करता है।

(३) परियट्टणाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

हे भगवन ! परिवर्तना पाठ की आवृत्ति करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

परियट्टणाए ण वजणाइ जणयइ वजणलद्धि च उप्पाएइ।

सूत्र-पाठ के पुन पुन परिवर्तना से व्यजनो का स्पष्ट ज्ञान होता है। ज्ञान की स्पष्टता से किस पद मे कितने व्यजन है, और किन-किन व्यजनो के सयोग से क्या अर्थ होता है ? इस प्रकार उपयोग की गहराई से व्यजन लब्धि प्राप्त होती है। यह परिवर्तना रूप स्वाध्याय का फल है।

(४) अणुप्पेहाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

हे भगवन् ! अनुप्रेक्षा-चिन्तन करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

अणुप्पेहाए आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ घणियवन्धण बद्धाओ सिढिलबन्धणबद्धाओ पकरेइ। दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकाल-ट्ठिइयाओ पकरेइ। तिव्वाणुभावाओ मन्दाणुभावाओ पकरेइ (बहुप्पए-सग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ।) आउय च ण कम्म सिय बन्धइ सिय नो बन्धइ। असायावेयणिज्ज च ण कम्म नो भुज्जो-भुज्जो उवचिणाइ। अणाइय च ण अणवदग्ग दीहमद्ध चाउरन्त ससारकन्तार खिप्पामेव वीइवयइ।

अनुप्रेक्षा मे चिन्तन की गहराई से स्वाध्यायी आयु कर्म को छोड-कर सात प्रकृतियो का यदि दृढ बन्धन से बँधी हो तो उनको शिथिल बन्धन वाली करता है। दीर्घकाल की स्थिति वाली प्रकृतियो को अल्प स्थिति वाली करता है। तीव्र रस वाली प्रकृतियो को मन्द रस वाली करता है। और अधिक प्रदेश वाली प्रकृतियो को अल्प प्रदेश वाली करता है। आयुकर्म कदाचित बाँधता है, कदाचित नही, और अध्यवसायो

मे कलुषित पना नही रहने से असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय (सग्रह) नही करता है। अन्त मे अनादि अनन्त-दीर्घमार्ग वाले चतुर्गति ससार कान्तार का जल्दी ही अन्त कर देता है।

(५) धम्मकहाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?

हे भगवन् ! धर्मकथा करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

धम्मकहाए ण निज्जर जणयइ। धम्मकहाए ण पवयण पभावेइ। पवयण पभावेण जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्म निबन्धइ।

धर्मकथा करने से जीव कर्मो की निर्जरा करता है। और धर्म के मर्म को विविध दृष्टियो से समझा कर प्रवचन की प्रभावना करता है, प्रवचन (शुद्ध वीतराग मार्ग) की प्रभावना से जीव भविष्य मे भद्रमन के (हल्के) कर्मो का बन्ध करता है।

इस प्रकार बडी-बडी तपस्या और ध्यान से जो आत्मगुण की प्राप्ति होती है, वह स्वाध्याय के द्वारा सहज ही प्राप्त हो जाती है। शास्त्रकारो ने स्वाध्याय की उच्च-स्थिति से चतुर्गतिक ससार को पार करने की बात भी बता दी है। इससे बढकर और क्या लाभ हो सकता है। इसलिए हमेशा स्वाध्याय करते रहना चाहिए। कहा भी है कि—'न स्वाध्यायात् पर तप' अर्थात् स्वाध्याय से बढकर अन्य कोई तप नही है।

□□

ससारगड्ढपडितो णाणादवलबितु समारुहति।
मोक्खतड जध पुरिसो वल्लि विताणेण विसमाओ॥

—निशीथ भाष्य ४६५।

जिस प्रकार विषम गर्त मे पडा हुआ व्यक्ति लता आदि को पकड कर ऊपर आता है, उसी प्रकार ससार गर्त मे पडा हुआ व्यक्ति ज्ञान (स्वाध्याय) आदि का आलम्बन लेकर मोक्ष रूपी किनारे पर आ जाता है।

स्वाध्यायी का आदर्श जीवन

विचार-द्रष्टा
आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज

विचार-सम्पादन
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

> जैसे ईसा ने कहा है—मनुष्य ससार का नमक है। इसी प्रकार स्वाध्यायी के विषय मे कहा जा सकता है—वह मानव समाज का 'नमक' है। नमक ही सब रस मे मुख्य है, वह सब का रस बदल सकता है। स्वाध्यायी नमक की तरह बहुत कम मिलते हैं किन्तु उनकी अल्प मात्रा ही पूरे समाज-जीवन को बदल सकती है। इसलिए आवश्यक है कि स्वाध्यायी का जीवन एक आदर्श जीवन हो। अध्यात्म और व्यवहार दोनो क्षेत्रो मे उसकी भूमिका श्रेष्ठ हो। इस दृष्टि से परम श्रद्धेय आचार्य श्री हस्तीमल जी म०सा० द्वारा सूचित विचार एव भावनाओ को यहाँ शब्दायित करके पाठको के मनन/चिन्तन हेतु प्रस्तुत किया गया है।

स्वाध्याय सम्पूर्ण जीवन-विकास की कला

स्वाध्याय एक तप है, साधना है कला है, विज्ञान है। तप के रूप मे यह विशुद्धिकारक है। साधना के रूप मे यह मन वचन-काय तीनो योगो को स्थिर रखना—इन्हे साधने की शिक्षा देता है। कला के रूप मे जीवन को सर्वांगीण सुन्दर सस्कारयुक्त बनाता है, उपयोगी जीवन बनाने की प्रेरणा प्रदान करता है और विज्ञान के रूप मे यह सर्वतोमुखी उन्नति और विकास का मार्ग प्रशस्त करता है तथा जीवन को अद्भुत आध्यात्मिक आलोक से भर देता है, आत्मिक उल्लास एव आनन्द की अनुभूति करने मे सक्षम बना देता है।

जीवन अखण्डित है

वस्तुत जीवन कोई खण्डित वस्तु नही, एक समग्र अनुभूति है। और जो जीवन खण्डित होता है, विभिन्न प्रकार के भेद-प्रभेदो मे विभाजित होता है, वह भग्न हो जाता है, निराश-कुठित बन जाता है, आशा का दीप उसमे नही जगमगाता, ज्योति नही जलती।

ऐसा नही है कि स्वाध्यायी का जीवन गुरु चरणो मे, उपाश्रय मे, स्वाध्याय करते समय एक प्रकार का हो तथा परिवार और समाज मे दूसरे प्रकार का और व्यापार करते समय तीसरे प्रकार का हो। यह बहुरूपियापन स्वाध्यायी के जीवन मे नही होता।

स्वाध्यायी का जीवन, उसका आचरण, व्यवहार, बोलचाल, वाणी-भाषा, वेश-भूषा, तन-मन-वचन की स्वच्छता सर्वत्र एक सी रहती है। उसका जीवन एक ऐसा आदर्श होता है, जो अपने सम्पर्क मे आने वाले अन्य सभी लोगो के लिए प्रेरक बन जाता है।

स्वाध्यायी के लिए यह कहा जा सकता है—

स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्व मानवा ।

मानव समाज उससे अपने-अपने चरित्र की प्रेरणा-शिक्षा लेवे, ऐसा आदर्श होना चाहिए स्वाध्यायी का जीवन।

ऐसा आदर्श जीवन जीने वाला स्वाध्यायी कुछ विशिष्ट गुणो को ग्रहण कर लेता है, अथवा यो समझिये कि ये गुण स्वय ही उसके जीवन मे विकसित हो जाते है।

आन्तरिक वाह्य गुणो की अपेक्षा

ये गुण आन्तरिक भी होते है और बाह्य भी। जहाँ तक परिलक्षित होने का प्रश्न है—दोनो प्रकार के गुण स्पष्ट होते है, लोग उन्हे देख सकते हैं, जान सकते है, समझ सकते हैं।

यह विभाजन तो व्यक्ति की स्वय की अपेक्षा से है।

स्वाध्यायी के विभिन्न प्रकार के गुण

आन्तरिक गुणो मे हार्दिक और मानसिक गुणो की गणना की जा सकती है। ये गुण हैं—विनम्रता, दयालुता, अक्रूरता, दाक्षिण्यता, गुणानुरागता आदि।

वाह्य गुणो को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—वचन सम्बन्धी और शरीर सम्बन्धी। शरीर सम्बन्धी गुणो मे ही वस्त्र, वेश-भूषा आदि भी परिगणित किये जा सकते हैं।

(२) वचन सम्बन्धी गुणो मे—मिष्ट शिष्ट भाषा अथवा सत्ययुक्त मीठी वाणी तो प्रमुख है ही, साथ ही परनिन्दा, पैशुन्य, अभ्याख्यान, कलह आदि से दूर रहना, कठोर मर्मघाती वचन न बोलना भी स्वाध्यायी का आवश्यक गुण है।

(३) शरीर सम्बन्धी गुणो मे स्वच्छता प्रमुख है। स्वच्छता शरीर की तथा शरीर पर धारण किये जाने वाले वस्त्रो की। साथ ही स्वाध्याय करते समय आसन आदि की स्थिरता भी शरीर के आधार पर ही होती है।

(४) विशिष्ट गुण भी आवश्यक है, जैसे स्वीकृत व्रत नियमो मे दृढता, कथनी और करनी की एकरूपता, दृढ श्रद्धा आदि।

यह तो स्वाध्यायी के गुणो का नामोल्लेख मात्र है। इन गुणो से स्वाध्यायी का जीवन चमकना चाहिए। वह चमक तभी आ सकेगी जब स्वाध्यायी इन गुणो के स्वरूप को भली-भाँति समझकर अपने जीवन मे उनका उपयोग करेगा।

इस सन्दर्भ मे कतिपय गुणो के बारे मे समझ लेना स्वाध्यायी के लिए उपयोगी होगा।

(१) **विनय**—यह स्वाध्यायी के लिए अत्यावश्यक गुण है। उत्तराध्ययन सूत्र का प्रथम विनयश्रुत अध्ययन ही विनय का महत्व प्रदर्शित करता है। वहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि विनयी शिष्य ही सूत्र और उनके अर्थो का ज्ञान प्राप्त कर पाता है तथा स्वाध्याय मे सक्षम होता है।[1]

आचार्य रामसेन ने भी स्वाध्याय के द्वारा ही परमात्मस्वरूप उपलब्ध होने की बात कही है।[2]

यह तो विनय का आध्यात्मिक फल है, किन्तु इसका लौकिक अथवा व्यावहारिक फल भी कम महत्व का नही है। विनयी व्यक्ति स्वय ही लोकप्रिय हो जाता है, सर्वत्र आदर और प्रशसा पाता है। विनयी का अध्ययन घृत से प्रज्वलित अग्नि-शिखा की तरह ज्योतिर्मय—प्रकाशमय होता है।[3]

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र, प्रथम अध्ययन, गाथा २३

२ आचार्य रामसेन तत्वानुशासन, गाथा ८१

३ दशवै अ ९

विनय के भेदो मे एक भेद लोकोपचार विनय भी है।[1] इसका लौकिक दृष्टि से बहुत महत्व है।

यह विडम्बना ही कही जायगी कि कोई व्यक्ति स्वाध्यायी बनने का दिखावा तो करे, सद्ग्रन्थो का पठन-पाठन भी करे, किन्तु विनीत न हो, देव, गुरु, और माता-पिता तथा गुरुजनो के प्रति विनम्र न हो। ऐसे व्यक्ति के व्यवहार का अन्य लोगो पर विपरीत प्रभाव ही पडता है। अनुकूल प्रभाव तो विनीत का ही पडता है। इसलिए स्वाध्यायी को विनीत होना ही चाहिए।

(२) दूसरा आवश्यक गुण है अक्रूरता। इसके लिए उत्तराध्ययन सूत्र मे 'चडालिय' शब्द दिया गया है। 'चण्डालिय' का अर्थ है क्रोध के वशीभूत होकर (अलिय) झूठ बोलना, साथ ही इसमे क्रूर अथवा अनुचित व्यवहार भी गर्भित है।

क्रूर व्यवहार स्वाध्यायी को नही करना चाहिए साथ ही उसे क्रूर वचन भी नही बोलना चाहिए। उसका व्यवहार सभी के साथ सौम्य कोमल और मधुर होना चाहिए।

सौम्यता—सज्जनता एव शिष्टता की निशानी है। व्यक्ति जितना सौम्य होगा उतना ही उसका अन्य लोगो पर अच्छा प्रभाव पडेगा।

(३) अक्षुद्रता—इसे साधारण शब्दो मे उदारता भी कह सकते है। उदारता का अभिप्राय है—विशाल हृदयता। स्वाध्यायी को अपना हृदय कभी सकुचित नही रखना चाहिए।

सकुचित हृदय वाले व्यक्ति कभी भी आत्मिक उन्नति नही कर पाते। शास्त्रो मे सर्वत्र कहा गया है कि व्यक्ति को अपना हृदय हमेशा उदार रखना चाहिए। सकुचित और क्षुद्र हृदय वाले पुरुषो के प्रति जन-भावना अच्छी नही रहती।

फिर सबसे बडी बात यह है कि शास्त्रो मे सर्वत्र उदारता एव विशाल हृदयता की प्रेरणा पाकर भी यदि स्वाध्यायी का हृदय क्षुद्र रहा तो उसके स्वाध्याय को सफल स्वाध्याय कैसे माना जा सकेगा, यह तो एक विडम्बना ही होगी।

(४) गुणानुरागिता—शास्त्रो मे सर्वत्र यह प्रेरणा दी गई है—गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू—गुण ग्रहण करने से साधुता, और गुण का त्याग

१ स्थानाग सूत्र ७ तथा तत्वार्थ सूत्र, अध्याय ९

करने से असाधुता आती है। अत गुण जहाँ से भी मिले, उन्हे ग्रहण कर लेना चाहिए। साथ ही गुणियो के प्रति प्रमोद भाव रखना चाहिए। **'गुणिषु प्रमोद'** यह जैन सस्कृति का स्पष्ट आघोष रहा है।

(५) **करुणा**—अथवा **दया**, ऐसा देवी गुण है जो सावभौम है। जैन शास्त्रो मे तो दया को दयामाता के नाम से कहा गया है।

यद्यपि करुणा मानव मात्र की हार्दिक भावना है। यह वह गुण है जो हृदय को द्रवित करता है, प्राणीमात्र के प्रति सहानुभूति और समवेदना का भाव जागृत करता है। एक शब्द मे कहा जाय तो मानवता का प्रमुख लक्षण करुणा ही है।

किन्तु स्वाध्यायी के लिए तो इस गुण का विशेष महत्व है। जनता करुणा के थर्मामीटर द्वारा ही उसके सम्पूर्ण चरित्र का आकलन करती है, उसे अच्छा या बुरा समझती है।

स्वाध्यायी कितना ही ज्ञानवान हो, चाहे उसने कितने ही शास्त्र कठस्थकर रखे हो, उसकी जिह्वा पर सरस्वती का वास हो, धर्मतत्व की एक एक कली खोलकर जनता को समझाने की उसमे क्षमता हो, किन्तु एक करुणा के अभाव मे सब व्यर्थ है।

एक विद्वान थे, तत्व के जानकार थे, उनका प्रवचन सुनने के लिए हजारो श्रोता उमड पडे थे, उनकी वक्तृत्व कला से प्रभावित होकर सभी वाह-वाह कर रहे थे। लेकिन जैसे ही पसीना पोछने के लिए जेब से रूमाल निकाला तो दो अण्डे गिर गये। जनता थू-थू कर उठी। कितना बुरा प्रभाव पडा लोगो पर!

बस, यही स्थिति उस स्वाध्यायी की होती है, जिसके हृदय में करुणा का वास नही होता, वह निन्दा और तिरस्कार का पात्र बनता है। अत यह गुण स्वाध्यायी को प्रयत्नपूर्वक अर्जित करना चाहिए।

(६) **विवेक**—यह ऐसा सद्‌गुण है जो जीवन को सुरभित कर देता है। जीवन मे इसकी आवश्यकता पग-पग पर पडती है। विवेकी व्यक्ति जीवन के हर मोर्चे पर सफल रहता है। विवेक जीवन का दीपक है। विवेक अन्तर्चक्षु है। **विवेगे धम्ममाहिए**—विवेक मे ही धर्म का निवास है।

स्वाध्यायी के लिए तो इस गुण की विशेष आवश्यकता है। भगवान महावीर ने विभिन्न अपेक्षाओ से भिन्न-भिन्न सिद्धान्त कहे हैं जो परस्पर विरोधी से मालूम होते है, ऐसे स्थलो को समझने के लिए विवेक की ही आवश्यकता होती है।

विनय के भेदो मे एक भेद लोकोपचार विनय भी है।[1] इसका लौकिक दृष्टि से बहुत महत्व है।

यह विडम्बना ही कही जायगी कि कोई व्यक्ति स्वाध्यायी बनने का दिखावा तो करे, सद्ग्रन्थो का पठन-पाठन भी करे, किन्तु विनीत न हो, देव, गुरु, और माता-पिता तथा गुरुजनो के प्रति विनम्र न हो। ऐसे व्यक्ति के व्यवहार का अन्य लोगो पर विपरीत प्रभाव ही पडता है। अनुकूल प्रभाव तो विनीत का ही पडता है। इसलिए स्वाध्यायी को विनीत होना ही चाहिए।

(२) दूसरा आवश्यक गुण है अक्रूरता। इसके लिए उत्तराध्ययन सूत्र मे 'चडालिय' शब्द दिया गया है। 'चण्डालिय' का अर्थ है क्रोध के वशीभूत होकर (अलिय) झूठ बोलना, साथ ही इसमे क्रूर अथवा अनुचित व्यवहार भी गर्भित है।

क्रूर व्यवहार स्वाध्यायी को नही करना चाहिए साथ ही उसे क्रूर वचन भी नही बोलना चाहिए। उसका व्यवहार सभी के साथ सौम्य कोमल और मधुर होना चाहिए।

सौम्यता—सज्जनता एव शिष्टता की निशानी है। व्यक्ति जितना सौम्य होगा उतना ही उसका अन्य लोगो पर अच्छा प्रभाव पडेगा।

(३) अक्षुद्रता—इसे साधारण शब्दो मे उदारता भी कह सकते है। उदारता का अभिप्राय है—विशाल हृदयता। स्वाध्यायी को अपना हृदय कभी सकुचित नही रखना चाहिए।

सकुचित हृदय वाले व्यक्ति कभी भी आत्मिक उन्नति नही कर पाते। शास्त्रो मे सर्वत्र कहा गया है कि व्यक्ति को अपना हृदय हमेशा उदार रखना चाहिए। सकुचित और क्षुद्र हृदय वाले पुरुषो के प्रति जन-भावना अच्छी नही रहती।

फिर सबसे बडी बात यह है कि शास्त्रो मे सर्वत्र उदारता एव विशाल हृदयता की प्रेरणा पाकर भी यदि स्वाध्यायी का हृदय क्षुद्र रहा तो उसके स्वाध्याय को सफल स्वाध्याय कैसे माना जा सकेगा, यह तो एक विडम्बना ही होगी।

(४) गुणानुरागिता—शास्त्रो मे सर्वत्र यह प्रेरणा दी गई है—गुर्णहि साहू अगुणेहिऽसाहू—गुण ग्रहण करने से साधुता, और गुण का त्याग

---

१ स्थानाग सूत्र ७ तथा तत्वार्थ सूत्र, अध्याय ६

करने से असाधुता आती है। अत गुण जहाँ से भी मिले, उन्हे ग्रहण कर लेना चाहिए। साथ ही गुणियो के प्रति प्रमोद भाव रखना चाहिए। **'गुणिषु प्रमोद'** यह जैन सस्कृति का स्पष्ट आघोष रहा है।

(५) **करुणा**—अथवा **दया,** ऐसा दैवी गुण है जो सार्वभौम है। जैन शास्त्रो मे तो दया को दयामाता के नाम से कहा गया है।

यद्यपि करुणा मानव मात्र की हार्दिक भावना है। यह वह गुण है जो हृदय को द्रवित करता है, प्राणीमात्र के प्रति सहानुभूति और समवेदना का भाव जागृत करता है। एक शब्द मे कहा जाय तो मानवता का प्रमुख लक्षण करुणा ही है।

किन्तु स्वाध्यायी के लिए तो इस गुण का विशेष महत्व है। जनता करुणा के थर्मामीटर द्वारा ही उसके सम्पूर्ण चरित्र का आकलन करती है, उसे अच्छा या बुरा समझती है।

स्वाध्यायी कितना ही ज्ञानवान हो, चाहे उसने कितने ही शास्त्र कठस्थकर रखे हो, उसकी जिह्वा पर सरस्वती का वास हो, धर्मतत्व की एक एक कली खोलकर जनता को समझाने की उसमे क्षमता हो, किन्तु एक करुणा के अभाव मे सब व्यर्थ है।

एक विद्वान थे, तत्व के जानकार थे, उनका प्रवचन सुनने के लिए हजारो श्रोता उमड पडे थे, उनकी वक्तृत्व कला से प्रभावित होकर सभी वाह-वाह कर रहे थे। लेकिन जैसे ही पसीना पोछने के लिए जेब से रूमाल निकाला तो दो अण्डे गिर गये। जनता थू-थू कर उठी। कितना बुरा प्रभाव पडा लोगो पर!

बस, यही स्थिति उस स्वाध्यायी की होती है, जिसके हृदय में करुणा का वास नही होता, वह निन्दा और तिरस्कार का पात्र बनता है। अत यह गुण स्वाध्यायी को प्रयत्नपूर्वक अर्जित करना चाहिए।

(६) **विवेक**—यह ऐसा सद्‌गुण है जो जीवन को सुरभित कर देता है। जीवन मे इसकी आवश्यकता पग-पग पर पडती है। विवेकी व्यक्ति जीवन के हर मोर्चे पर सफल रहता है। विवेक जीवन का दीपक है। विवेक अन्तर्‌चक्षु है। **विवेगे धम्ममाहिए**—विवेक मे ही धर्म का निवास है।

स्वाध्यायी के लिए तो इस गुण की विशेष आवश्यकता है। भगवान महावीर ने विभिन्न अपेक्षाओ से भिन्न-भिन्न सिद्धान्त कहे है जो परस्पर विरोधी से मालूम होते है, ऐसे स्थलो को समझने के लिए विवेक की ही आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार अनेक विरोधी कर्तव्य कभी-कभी उसके सामने आ खडे होते हैं। उस समय कौन से कर्तव्य को प्राथमिकता दी जाय, यह प्रकाश विवेक द्वारा प्राप्त होता है। विवेकी मनुष्य शीघ्र कर्तव्य का निर्णय कर सकता है। धर्म के लिए भगवान का आदेश है—'पन्ना समक्खिए धम्म' धर्मतत्व की समीक्षा प्रज्ञा अथवा विवेक से करनी चाहिए।

व्यावहारिक जगत मे भी यदि कोई व्यक्ति अविवेकपूर्ण कार्य करता है तो उसे मूर्ख कहा जाता है। यो राम का नाम सत्य है, किन्तु किसी बारात अथवा शुभ मागलिक अवसर पर 'राम नाम सत्य है' का उद्घोष करने वाला व्यक्त वज्रमूर्ख ही कहा जायेगा।

यही बात अविवेकपूर्ण स्वाध्यायी के लिए भी सत्य है।

(७) कृतज्ञता – यह ऐसा गुण है जो व्यक्ति को बहुत ऊँचा उठा देता है, लौकिक क्षेत्र मे भी और आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी।

स्वाध्यायी सद्गुरुदेव की कृपा से ग्रन्थो के रहस्य को समझता है, उसे हृदयगम करता है और गहरा पैठता है। उस सातिशय ज्ञान की प्राप्ति मे सहायक गुरुदेव तथा अन्य सभी सहयोगियो द्वारा की गई सहायता को उसे विस्मृत नही होना चाहिए।

स्थानाग सूत्र मे बताया है—कृतज्ञता से गुणो मे अधिक दीप्ति आती है। कृतज्ञ का ज्ञान, ध्यान सर्वत्र प्रशसित होता है।

इसी प्रकार सासारिक क्षेत्र मे भी जिस किसी से उसे किसी भी प्रकार का भी सहयोग तन, मन, वचन और धन से प्राप्त हुआ हो तो उसके प्रति भी उसे कृतज्ञता प्रदर्शित करनी ही चाहिए।

कृतज्ञता का विरोधी होता है, कृतघ्न। कृतघ्नता ससार मे सबसे बडा अवगुण माना जाता है। उर्दू मे ऐसे व्यक्ति को एहसान फरामोश कहा जाता है और अग्रेजी भाषा मे (Ungrateful)।

ऐसे कृतघ्न व्यक्ति की सर्वत्र निन्दा होती है और कृतज्ञ व्यक्ति की प्रशसा। यदि स्वाध्यायी व्यक्ति कृतज्ञ न हुआ तो स्वय तो उसकी उन्नति का द्वार अवरुद्ध हो ही जायगा, साथ ही उसके निन्दनीय आचरण के कारण अन्य लोगो पर भी उसका विपरीत प्रभाव ही पडेगा।

(८) परोपकार—परोपकार ससार मे सर्वत्र प्रशसा देता है। स्वाध्यायी जिन धर्मग्रन्थो का अध्ययन करता है, उनमे पग-पग पर परोपकार की प्रेरणा दी गई है तथा उसके शुभफल का दिग्दर्शन भी कराया। गया है।

वेदव्यास जी तो परोपकार को ही पुण्य कहते है और तुलसीदासजी के शब्दो मे—'परहित सरिस धर्म नही भाई।' ही माना गया है।

फिर यह विचित्रता ही होगी कि स्वाध्यायी अपनी शक्ति के अनुसार किसी का परोपकार करने मे हिचकिचाए।

तत्वार्थ सूत्र मे **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** कहकर परोपकार का ही महत्व तो प्रदर्शित किया गया है। अत स्वाध्यायी के जीवन का एक आवश्यक अग परोपकार ही होता है।

अन्य गुण—इसी प्रकार स्वाध्यायी दीर्घदर्शी भी होता है किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पहले ही उसके फलाफल पर भलीभांति विचार कर लेता है। ऐसा नही करता कि आग मे पहले हाथ डाल दे और हाथ जलने पर बाद मे पछतावा करता रहे।

साथ ही वह लोक परम्परा का भी ध्यान रखता है। ऐसा कोई काम नही करता जो लोक-प्रचलित परम्परा के विरुद्ध हो और लोगो को उसकी ओर अगुली उठाने का मौका मिले। उसकी मान्यता होती है—

यद्यपि शुद्ध, लोकविरुद्ध न करणीयम्, नाचरणीयम्।

क्योकि लोकविरुद्ध आचरण करने से व्यर्थ का अपवाद फैलता है।

इसी प्रकार वह यथाशक्ति दान, सयम, परमार्थ आदि विभिन्न गुणो को अपने जीवन मे स्थान देता है।

उपरोक्त आध्यात्मिक गुणो के अतिरिक्त स्वाध्यायी मे कुछ वचन सम्बन्धी गुणो का होना भी आवश्यक है, क्योकि समाज तथा अन्य व्यक्तियो पर प्रमुख रूप से वचन का ही प्रभाव पडता है।

वचन की क्षमता असीम है। एक जापानी कहावत के अनुसार—'तीन इच की जबान छह फुट के मनुष्य को मारने की क्षमता रखती है।' लौकिक कहावत भी है—गोली का घाव भर जाता है, बोली का नही भरता।

इसीलिए स्वाध्यायी को भाषा के सम्बन्ध मे सावधान रहना चाहिए। उसे ऐसी वाणी बोलनी चाहिए जो सभी के लिए हितकर हो।

सामान्यतया श्रावक के लिए निर्देश है—

श्रावक जी थोडा बोले, काम पड्या सूँ बोले,
न्याय-नीति सूँ बोले, सब को साताकारी बोले।

इससे तो स्वाध्यायी बढकर होता है, उसे तो और भी अपने वचनो को सँभालकर—नाप-तोलकर बोलना चाहिए।

(१) पाये की बात—इसका अभिप्राय है कि स्वाध्यायी जो कुछ भी कहे, वह प्रमाण सहित कहे। ऐसी बात मुख से न निकाले, जिसका प्रमाण न दे सके। क्योकि बिना प्रमाण की बात सत्य होते हुए भी विश्वसनीय नही होती। लोग उस बात का विश्वास नही करते।

इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है—

सच्च च हिय च मिय च गाहण च। —प्रश्न० २/२

ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिए जो हित, मित और ग्राह्य हो।

भगवान के इन शब्दो को अपने जीवन का आदर्श बनाकर स्वाध्यायी को सदा प्रमाण सहित विश्वसनीय ग्राह्य सत्य ही बोलना चाहिए।

(२) **मिष्ट भाषा**—स्वाध्यायी की भाषा सत्य होने के साथ साथ मीठी भी होनी चाहिए। उसे जो कुछ कहना हो, साफ-साफ कह देना चाहिए, लेकिन—

जो बात हो वह साफ हो, सुथरी हो, भली हो।
कडवी न हो, खट्टी न हो, मिसरी की डली हो॥

लेकिन मीठी भाषा का यह अर्थ कदापि नही है कि वह खुशामद करे, खुशामदी बन जाय। अथवा मीठी वाणी या स्वाध्याय की आड मे अपना निजी स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न करे। यदि कोई धनवान आ जाये तो उसे बडे आदर और प्रेम से शास्त्र की बात समझाये और निर्धन के प्रति बेरुखी अपना ले। अपितु भगवान के आदेश को माने—

जहा पुण्णस्स कत्थई तहा तुच्छस्स कत्थई।

पुण्यवान पापी, धनवान-निर्धन, उच्च-नीच आदि का भेद भुलाकर उसे सबके साथ धर्म सहयोग करना चाहिए, धर्मतत्व समझाना चाहिए।

इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वाध्यायी के पास इसीलिए आता है कि यह शास्त्रो का जानकार है तो हमे इसमे यथार्थ बोध प्राप्त हो जायेगा। स्वाध्यायी को उन्हे कभी निराश नही करना चाहिए।

साथ ही धनवान-निर्धन आदि का भेदभाव करने से स्वाध्यायी समाज मे निन्दा का पात्र भी बन सकता है। क्योकि समाज मे निर्धन अधिक होते हैं और रूखा व्यवहार मिलने से वे स्वाध्यायी के बारे मे भ्रात बाते फैला सकते हैं, जिससे लोगो की उसके प्रति भ्रान्त धारणा बन सकती है।

इसके अतिरिक्त किसी को निन्दा, चुगली, अपवाद, परिवाद, अभ्याख्यान आदि भी वाणी के दोष हैं। स्वाध्यायी को ऐसी भाषा का प्रयोग नही करना चाहिए जिससे कलह उत्पन्न हो जाय या पुराना दबा हुआ वैर-विरोध पुन अग्नि ज्वाला के समान भडक उठे।

चुगली को शास्त्रो मे पीठ का माँस कहा है और आदेश दिया है—

पिट्ठिमस न खाएज्जा —दशवै ८/४७

पृष्ठ मास अथवा चुगली नही खानी चाहिए।

इसी प्रकार स्वाध्यायी यदि किसी की मर्म की बात कह दे अथवा उसका रहस्य प्रगट कर दे तो वह व्यक्ति स्वय ही बिना बनाये शत्रु बन जाता है, मन मे वैर की गाँठ बाँध लेता है।

माया और मत्सर भरे शब्द भी मुख से नही निकालने चाहिए। ईर्ष्याजनित शब्द तो और भी अनर्थकारी होते है।

दो ब्राह्मण थे। दोनो ही कर्मकाण्डी और वेदपाठी। वेदो का अध्ययन और स्वाध्याय उनका नित्य क्रम था। किन्तु दोनो परस्पर जलते थे।

एक बार एक गृहस्थ ने उन्हे भोजन के लिए निमन्त्रण दिया। दोनो आये। जब पहले ब्राह्मण को वह सद्गृहस्थ हाथ-मुह धुलाने ले गया। तो उसने दूसरे ब्राह्मण के बारे मे कहा - वह तो पूरा बैल है। बस खाना ही जानता है। वेदो का अर्थ वह क्या जाने ? इसी प्रकार दूसरे ब्राह्मण ने पहले के लिए कहा—वह तो गधा है। बस, वेदो का बोझ ही ढोता है, उनमे भरे रहस्य को बिलकुल नही जानता।

गृहस्थ विवेकी था। उसे इन ब्राह्मणो की पारस्परिक ईर्ष्या बुरी लगी। उन्हे शिक्षा देने के विचार से उसने एक के सामने भुस रख दिया और दूसरे के मामने घास। जब वे दोनो आश्चर्य से गृहस्थ की ओर देखने लगे तो वह गृहस्थ बोला—आप दोनो ने जो एक दूसरे का परिचय बताया है, उसी के अनुरूप यह भोजन है।

दोनो बहुत लज्जित हुए, उन पर घडो पानी गिर गया और अपनी ईर्ष्या को सदा के लिए तिलाजलि दे दी।

यहाँ इस कथा को बताने का अभिप्राय सिर्फ इतना ही है कि स्वाध्यायी अपने किसी भी वचन से ऐसी स्थिति न आने दे।

यदि एक शब्द मे कहा जाय तो स्वाध्यायी को सावद्य भाषा नही बोलनी चाहिए। घर मे, परिवार मे, समाज मे, व्यापार मे सर्वत्र उसे निरवद्य और निष्पापकारी भाषा का प्रयोग ही करना उचित है।

(१) पाये की बात—इसका अभिप्राय है कि स्वाध्यायी जो कुछ भी कहे, वह प्रमाण सहित कहे। ऐसी बात मुख से न निकाले, जिसका प्रमाण न दे सके। क्योकि बिना प्रमाण की बात सत्य होते हुए भी विश्वसनीय नही होती। लोग उस बात का विश्वास नही करते।

इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है—

सच्च च हियं च मियं च गाहण च। —प्रश्न० २/२

ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिए जो हित, मित और ग्राह्य हो।

भगवान के इन शब्दो को अपने जीवन का आदर्श बनाकर स्वाध्यायी को सदा प्रमाण सहित विश्वसनीय ग्राह्य सत्य ही बोलना चाहिए।

(२) मिष्ट भाषा—स्वाध्यायी की भाषा सत्य होने के साथ साथ मीठी भी होनी चाहिए। उसे जो कुछ कहना हो, साफ-साफ कह देना चाहिए, लेकिन—

जो बात हो वह साफ हो, सुथरी हो, भली हो।
कडवी न हो, खट्टी न हो, मिसरी की डली हो॥

लेकिन मीठी भाषा का यह अर्थ कदापि नही है कि वह खुशामद करे, खुशामदी बन जाय। अथवा मीठी वाणी या स्वाध्याय की आड मे अपना निजी स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न करे। यदि कोई धनवान आ जाये तो उसे बडे आदर और प्रेम से शास्त्र की बात समझाये और निर्धन के प्रति बेरुखी अपना ले। अपितु भगवान के आदेश को माने—

जहा पुण्णस्स कत्थई तहा तुच्छस्स कत्थई।

पुण्यवान पापी, धनवान-निर्धन, उच्च-नीच आदि का भेद भुलाकर उसे सबके साथ धर्म सहयोग करना चाहिए, धर्मतत्व समझाना चाहिए।

इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वाध्यायी के पास इसीलिए आता है कि यह शास्त्रो का जानकार है तो हमे इससे यथार्थ बोध प्राप्त हो जायेगा। स्वाध्यायी को उन्हे कभी निराश नही करना चाहिए।

साथ ही धनवान-निर्धन आदि का भेदभाव करने से स्वाध्यायी समाज मे निन्दा का पात्र भी बन सकता है। क्योकि समाज मे निर्धन अधिक होते हैं और रूखा व्यवहार मिलने से वे स्वाध्यायी के बारे मे भ्रात बाते फैला सकते है, जिससे लोगो की उसके प्रति भ्रान्त धारणा बन सकती है।

इसके अतिरिक्त किसी को निन्दा, चुगली, अपवाद, परिवाद, अभ्याख्यान आदि भी वाणी के दोप हैं। स्वाध्यायी को ऐसी भाषा का प्रयोग नही करना चाहिए जिससे कलह उत्पन्न हो जाय या पुराना दवा हुआ वैर-विरोध पुन अग्नि ज्वाला के समान भडक उठे।

चुगली को शास्त्रो मे पीठ का मॉस कहा है और आदेश दिया है—

पिट्ठिमस न खाएज्जा —दशवै ८/४७

पृष्ठ मास अथवा चुगली नही खानी चाहिए।

इसी प्रकार स्वाध्यायी यदि किसी की मर्म की वात कह दे अथवा उसका रहस्य प्रगट कर दे तो वह व्यक्ति स्वय ही बिना वनाये शत्रु वन जाता है, मन मे वैर की गॉठ वॉध लेता है।

माया और मत्सर भरे शब्द भी मुख से नही निकालने चाहिए। ईर्ष्याजनित शब्द तो और भी अनर्थकारी होते है।

दो ब्राह्मण थे। दोनो ही कर्मकाण्डी और वेदपाठी। वेदो का अध्ययन और स्वाध्याय उनका नित्य क्रम था। किन्तु दोनो परस्पर जलते थे।

एक बार एक गृहस्थ ने उन्हे भोजन के लिए निमन्त्रण दिया। दोनो आये। जब पहले ब्राह्मण को वह सद्गृहस्थ हाथ-मुह धुलाने ले गया। तो उसने दूसरे ब्राह्मण के बारे मे कहा - वह तो पूरा बैल है। बस खाना ही जानता है। वेदो का अर्थ वह क्या जाने ? इसी प्रकार दूसरे ब्राह्मण ने पहले के लिए कहा—वह तो गधा है। बस, वेदो का बोझ ही ढोता है, उनमे भरे रहस्य को बिल्कुल नही जानता।

गृहस्थ विवेकी था। उसे इन ब्राह्मणो की पारस्परिक ईर्ष्या बुरी लगी। उन्हे शिक्षा देने के विचार से उसने एक के सामने भुस रख दिया और दूसरे के सामने घास। जब वे दोनो आश्चर्य से गृहस्थ की ओर देखने लगे तो वह गृहस्थ बोला—आप दोनो ने जो एक दूसरे का परिचय बताया है, उसी के अनुरूप यह भोजन है।

दोनो बहुत लज्जित हुए, उन पर घडो पानी गिर गया और अपनी ईर्ष्या को सदा के लिए तिलाजलि दे दी।

यहाँ इस कथा को बताने का अभिप्राय सिर्फ इतना ही है कि स्वाध्यायी अपने किसी भी वचन से ऐसी स्थिति न आने दे।

यदि एक शब्द मे कहा जाय तो स्वाध्यायी को सावद्य भाषा नहीं वोलनी चाहिए। घर मे, परिवार मे, समाज मे, व्यापार मे सर्वत्र उसे निरवद्य और निष्पापकारी भाषा का प्रयोग ही करना उचित है।

शारीरिक गुण प्रमुखत स्वच्छता है। मन की स्वच्छता के समान शरीर की सफाई भी अत्यावश्यक है। स्वच्छ शरीर अन्य लोगो को तो प्रभावित करता ही है, साथ ही स्वाध्याय मे मन भी अधिक लगता है।

शरीर की स्वच्छता का अर्थ शरीर शृगार नही है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि स्वाध्यायी स्वाध्याय करने से पहले शारीरिक शुद्धि आदि दैनिक आवश्यक क्रियाओ से निवृत होकर सादगी के साथ सफाई युक्त किन्तु साधारण वस्त्र पहने। अधिक चमकीले, भडकीले वस्त्रो का प्रभाव जन-मानस पर विपरीत पडता है। साथ ही स्वाध्यायी भी दत्तचित्त होकर स्वाध्याय नही कर पाता।

कहते है, किसी भक्त ने स्वामी रामकृष्ण को एक बहुमूल्य चादर अत्याग्रह करके भेट दे दी। स्वामी जी ने भी भक्त का आग्रह मान लिया, वह बहुमूल्य चादर स्वीकार कर ली।

लेकिन दूसरे दिन ही चादर उन्होने एक ओर रख दी। भक्त ने कारण पूछा तो वे बोले—भाई! तेरी कीमती चादर खराब न हो जाय, इस चिन्ता मे मैं ध्यान न कर सका। मेरा ध्यान जमता ही नही था, बार-बार उचट जाता था।

तो स्वाध्यायी को चाहिए कि वह ऐसी स्थिति न आने दे। उसका मुख्य प्रयोजन शास्त्र स्वाध्याय है, न कि बहुमूल्य वस्त्रो से सजाकर शरीर का प्रदर्शन करना।

वस्त्र और शारीरिक स्वच्छता—शुद्धि के साथ ही काय की स्थिरता भी स्वाध्यायी के लिए अत्यावश्यक है। शास्त्रो का पठन-पाठन करते समय उसे उचित आसन से अवश्य ही बैठना चाहिए।

गलत आसन का प्रयोग करने वाला शिष्य अविनीत होता है, वह दुष्ट अश्व के समान शिक्षा प्राप्त नही कर पाता।

साथ ही बार-बार आसन बदलना भी उचित नही है। इससे स्वाध्यायी की मानसिक अस्थिरता प्रगट होती है और अस्थिर चित्त वाला श्रोता कुछ सुनता है, कुछ नही सुनता। परिणाम यह होता है कि प्रसगानुकूल पूरी बात न समझने से अधकचरा रह जाता है।

जब वह अपने अधकचरे ज्ञान का स्वाध्याय करता है, अथवा किसी को बताता है तो शासन की हीलना तो होती ही है, वह स्वय भी हँसी का पात्र बनता है।

स्थिर आसन एव शरीर तथा वस्त्रो की स्वच्छता के साथ स्वाध्यायी को अपने स्वाध्याय मे दत्तचित्त होना चाहिए।

अन्य विशिष्ट गुण

उपरोक्त आध्यात्मिक, वाचसिक और शारीरिक गुणो के अतिरिक्त स्वाध्यायी मे कुछ अन्य विशिष्ट गुण होने भी अपेक्षित हैं, जिससे उसका जीवन स्वय अपने तथा अन्य लोगो के लिए आदर्श बन सके।

उनमे से कुछ गुणो का दिग्दर्शन यहाँ किया जाता है—

(१) दृढ श्रद्धा—स्वाध्यायी को अपने देव-गुरु-धर्म पर दृढ श्रद्धा होनी चाहिए। श्रद्धा को सामान्यत विश्वास समझ लिया जाता है किन्तु श्रद्धा मे पूज्य भाव का विशेष प्रभाव होता है तथा साथ ही यह विश्वास होता है कि यही मार्ग कल्याणप्रद है, सारे दु खो और सकटो को विनष्ट करके मुक्ति मे पहुँचा देगा।

देव-गुरु-धर्म पर पूज्य भाव के साथ मुक्ति प्राप्ति का विश्वास हो, वही भाव श्रद्धा है और स्वाध्यायी की इसी प्रकार की दृढ श्रद्धा अपने देव-गुरु-धर्म पर होती है। उसे दृढ विश्वास होता है कि देव-गुरु-धर्म की शरण ग्रहण करने से मुक्ति अवश्य प्राप्त होगी।

ऐसी दृढ श्रद्धा का स्वाध्यायी को स्वय तो लाभ होता ही है, उसकी आत्मा तेजस्वी बनती है, साथ ही उसकी वाणी मे प्रभावशीलता भी बढती है। उसके वचनो का श्रोताओ पर इच्छित असर होता है।

(२) व्रत निष्ठा—दृढ श्रद्धा के परिणामस्वरूप ही स्वाध्यायी के अन्तरग मे अपने स्वीकृत व्रतो के प्रति दृढ निष्ठा उत्पन्न होती है।

ढुलमुल श्रद्धा वाला स्वाध्यायी पहले तो व्रत लेता ही नही और यदि गुरुदेव अथवा समाज के अग्रगण्यो का लिहाज करके व्रत स्वीकार कर भी लेता है तो उनका सही ढग से पालन नही करता।

सही ढग से पालन का अभिप्राय है—अन्तर् और बाह्य दोनो रूपो मे व्रतो का निरतिचार पालन करना, किंचित् भी दोष न लगने देना, व्रतो के प्रति सतत जागरूक और सावधान रहना।

स्वाध्यायी श्रावक अपने व्रतो का आदर्श रूप मे पालन करता है, जिससे उसके सम्पर्क मे आने वाले अन्य जन भी प्रेरणा ग्रहण करते हैं और वे भी व्रत लेने को तत्पर हो जाते है।

व्यावहारिक जीवन

उपरोक्त सभी गुण स्वाध्यायी के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित है। यद्यपि इनका प्रभाव अन्य व्यक्तियो पर भी पडता है फिर भी प्रमुख रूप से यह गुण है व्यक्तिगत ही।

इन व्यक्तिगत गुणो के अतिरिक्त कुछ व्यावहारिक गुण भी ऐसे है जो स्वाध्यायी के जीवन मे प्रकाश पाते है।

स्वाध्यायी यदि अभी सयत नही बना है, गृहस्थ की ही भूमिका में है तो उसे अपना व्यावहारिक जीवन ऐसा बनाना चाहिए, जिसे अन्य लोग आदर्श समझे।

व्यक्ति का सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख व्यवहार क्षेत्र है परिवार। परिवार मे उसके माता-पिता भी है और पत्नी-पुत्र भी। अन्य निकट कुटुम्बी तथा सम्बन्धी भी हो सकते है।

यह सम्भव है कि स्वाध्यायी सत्शास्त्रो के पठन-पाठन और चिन्तन निदिध्यासन के बल पर माता-पिता से अधिक ज्ञानवान बन जाय, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वह माता-पिता की अवहेलना करे, उनका आदर-सम्मान न करे, ठेस पहुँचावे या उनकी उपेक्षा करे।

भगवान महावीर गर्भ से ही तीन ज्ञान के धारक थे, किन्तु अपने माता-पिता की भावनाओ का कितना सम्मान करते थे। जब गर्भ में हिलना-डुलना बन्द करने से माता दु खी हुई तो उसी समय उन्होने सकल्प कर लिया कि माता-पिता के जीवित रहते मैं सयम ग्रहण नही करूँगा, जिससे कि उन्हे किचित् भी दु ख हो।

भगवान के जीवन की यह घटना स्वाध्यायी के लिए एक प्रेरणा-प्रदीप है। वह भी तो उन्ही भगवान की वाणी का स्वाध्याय करता है तो भगवान के जीवन की इस घटना को आदर्श मानकर उसे माता-पिता की सेवा और उनका आदर करना उसका कर्त्तव्य है।

ठाणाग सूत्र मे कहा गया है कि मनुष्य अपने माता-पिता के ऋण से तभी उऋण हो सकता है, जब वह उन्हे धर्म मार्ग पर लगा दे। अत स्वाध्यायी का पुनीत कर्त्तव्य है कि वह माता-पिता को धर्म की ओर उन्मुख करे, उन्हे धर्म-सहायता दे।

इसी प्रकार परिवार के जिन सदस्यो का पालन-पोषण उसे करना है, शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करना है, उनके प्रति उसे अपना कर्तव्य निभाना चाहिए।

स्वाध्यायी का, सामाजिक प्राणी होने के नाते, समाज के प्रति भी कर्तव्य होता है, उसे समाज की उन्नति मे सहयोग देना चाहिए।

इसी प्रकार नगर, ग्राम, देश और यहाँ तक कि सम्भव हो सके तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुव्यवस्था और उन्नति मे अपनी योग्य भूमिका अदा करनी चाहिए।

तथ्य यह है कि जिस समाज मे अथवा देश मे स्वाध्यायी निवास कर रहा है, वहाँ शान्ति रहना आवश्यक है, अव्यवस्था और अराजकता की स्थिति मे किसी भी प्रकार की साधना और स्वाध्याय सम्भव ही नही है। धर्मसाधना के लिए शान्ति अनिवार्य है।

भगवान महावीर की वाणी—अगो के विच्छेद होने का एक प्रमुख कारण सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल और अशाति ही थी।

अत स्वाध्यायी का व्यावहारिक कर्तव्य है कि वह समाज मे तथा आस-पास के वातावरण मे शान्ति स्थापना मे अपना यथाशक्ति सहयोग दे। जिससे अन्य लोगो के लिए भी स्वाध्याय का—धर्माराधना का पथ प्रशस्त हो सके।

सक्षेप मे ये कतिपय गुण जो ऊपर की पक्तियो मे गिनाये गये है, ये और ऐसे ही गुणो से सम्पन्न स्वाध्यायी का जीवन तेजोदीप्त बनता है और प्रकाश स्तम्भ बनकर अपने आदर्श जीवन द्वारा स्वात्मोन्नति के साथ-साथ अन्य लोगो के लिए भी आदर्श का निर्माण करता है। □□

तीन प्रकार की शैक्ष भूमिकाएं—(सामायिक चारित्र का अवस्था काल) है।

- जघन्य—सात दिन की। उत्कृष्ट प्रतिभा वाला व्यक्ति एक सप्ताह मे ही समाचारी आदि का अभ्यास कर लेवे तो उसे सातवे दिन उपस्थापित (छेदोपस्थापनीय चारित्र) कर देना, जघन्य शैक्ष भूमिका।
- उत्कृष्ट—छह मास की। कोई मन्द बुद्धि और मन्द श्रद्धा वाला व्यक्ति समाचारी व इन्द्रियविजय का अभ्यास करने एव श्रुत का आवश्यक अभ्यास करने मे विलम्ब करे तो उसे छह मास मे छेदोपस्थापनीय (बडी दीक्षा) चारित्र देना—उत्कृष्ट शैक्ष भूमिका है।
- मध्यम—चार मास की। मध्यस्तर की मेधा एव श्रद्धा वाले व्यक्ति को समाचारी एव आवश्यक श्रुताभ्यास करने मे चार मास तक का समय देना मध्यम शैक्ष भूमिका है।

—स्थानाग स्थान ३, सूत्र १८६

(विवेचन-व्यवहार भाष्य, १०/५३-५४ के अनुसार)

— आगम मुक्ता से सकलित

जीवणस्स पयासपुंजो सज्झाओ
— १६ जी का प्रकाश पुंज है

—व्याख्याता धर्मचन्द जैन (जयपुर)

प्राकृत का ज्ञान सर्व साधारण मे सुलभ हो, इसलिए प्राकृत-भाषा का एक सरल लेख यहाँ दिया जा रहा है। इससे जिज्ञासु पाठक एक तर्फ प्राकृत भाषा का निबन्ध पढेगे और ठीक उसके सामने शब्दानुलक्षी भावानुवाद पढेगे। विद्वान लेखक ने प्राकृत भाषा इतनी सहज तथा सरल लिखी है कि वह एक-दो बार ध्यान से पढने पर प्राय समझ मे आ जाती है। इसका अनुवाद भी बहुत सरल और स्पष्ट है। अनुवाद पढने के बाद यदि पाठक एक बार पुन मूल प्राकृत पढेगे तो उन्हे लगेगा अब वे इसका अर्थ सहज ही समझ गये है। हमे आशा है इस प्रयास से प्राकृत भाषा के प्रति पाठको की अभिरुचि बढेगी। प्राकृत ज्ञान की जिज्ञासा प्रबल होगी। —सम्पादक

ससारम्मि सव्वे जीवा दुहिणो सति।	ससार मे सभी जीव दुखी है।
दुक्खस्स निवारणाय मणूसा खणिक भोइअ—सुहाण सग्गहे निरया दीसति।	मनुष्य दु ख का निवारण करने के लिए क्षणिक भौतिक सुख साधनो का सग्रह करने मे लगे हुए हे।
कितु ताण एव पयत्त निप्फल सिज्झई।	किन्तु उनका यह प्रयत्न निष्फल ही सिद्ध होता है।
खणिअविसयभोगेहि मणूसा कयावि दुहरहिआ भविउ न सक्कति।	क्षणिक विषय सुखो के उपभोग से मनुष्य कभी भी सुखी नही हो सकता।
दुहरहिआ सुहिणो जइ मणुआ भविउ इच्छति तदा सज्झाओ अवस्स करणिज्जो विज्जइ।	यदि मनुष्य दु ख से मुक्त होकर सुख का अनुभव करना चाहते है तो उन्हे स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।
उत्तमवि जहा—	कहा भी है—

सज्झाए वा निउत्तेण सव्वदुक्ख-विमोक्खणे ।

स्वाध्याय मे लीन आत्मा सब दु खो से मुक्त हो जाता है ।

सज्झाए निरयेण जणेण सव्वदुक्खाण नासो सभवइ ।

स्वाध्याय मे लगा हुआ मानव सभी दु खो का नाश कर सकता है ।

जओ सज्झाओ जण उम्मग्गाओ वारिऊण सम्मग्गे निओयइ ।

स्वाध्याय मनुष्य को उन्माग-कुमाग से रोककर सन्माग में प्रवृत्त करता है ।

तस्स मिच्छत्त विणासिअ सम्मत्त जणयइ ।

उसके हृदय का मिथ्यात्व दूर कर सम्यक्त्व का प्रकाश फैलाता है ।

सम्मत्त पाविऊण मणुओ सयजीवाण दुक्खरहिअ करिउ पहवइ ।

सम्यक्त्व प्राप्त मनुष्य सैकडो अन्य जीवो को दु ख से मुक्त करने मे समर्थ होता है ।

को णाम सो सज्झाओत्ति विआरिअव्व ।

वह स्वाध्याय क्या है ? इस पर विचार करना चाहिए ।

सज्झायसद्दस्स अणेगे अट्ठा करिज्जति ।

स्वाध्याय शब्द के अनेक अर्थ किये जाते है ।

किन्तु पमुहरूवेण दुवे अट्ठा हवति ।

किन्तु प्रमुख रूप से स्वाध्याय के दो अर्थ होते है—

पढमे अट्ठे सयस्य अप्पाणस्स अज्झयणमेव सज्झाओ वुच्चइ ।

प्रथम—स्वय का, आत्मा का अध्ययन करना स्वाध्याय है ।

बीओ अट्ठे जाण धम्मगथाण आगमसत्थाण सुचरित्तपोत्थयाण य ।

द्वितीय—धर्मग्रन्थो आगम ग्रन्थो, सच्चरित्र की प्रेरणा देने वाली पुस्तको का अध्ययन करना—स्वाध्याय है ।

अज्झयणेण सयस्स अप्पाणस्स बोहो हवइ, ताण अज्झयणमवि सज्झाओ कहिज्जइ ।

अध्ययन से स्वय का, आत्मा का बोध होता है । अत अध्ययन को भी स्वाध्याय कहा जाता है ।

एगे अट्ठे सज्झाओ सज्झ अत्थि ।

एक प्रथम अर्थ मे स्वाध्याय, साध्य है, लक्ष्य है ।

बीए य साहण वट्टई ।

द्वितीय अथ के अनुसार स्वाध्याय-साधन है, निमित्त है ।

साहणरूवे च्चिय अहुणा सज्झाय सद्दस्स अट्ठो अम्हाण अहिअ अभिट्ठो विज्जइ।

वतमान मे हमे साधन रूप द्वितीय अथ मे स्वाध्याय अधिक इप्ट है, इच्छित है।

धम्मगथाण अज्झाएण च्च जीवणस्स सम्म विगासो हवेज्ज। सो च्चिअ सज्झाओ।

धर्म ग्रन्थो के अध्ययन से जीवन का सम्यक्—सम्पूण रूप मे विकास होता है, इसलिए यह स्वाध्याय है।

विज्जालयेसु महाविज्जालयेसु वीसविज्जालयेसु य कड अज्झयण ण सज्झाओ।

विद्यालय, महाविद्यालय एव विश्वविद्यालय आदि मे की हुई पढाई स्वाध्याय नही कहलाती।

तत्थ हु भोइअविसयाण सिक्खा लब्भिज्जइ।

(क्योकि) वहा भौतिक (लौकिक) विषयो की शिक्षा दी जाती है।

कामोद्दीवयपोत्थयाण उवन्नासकहाण य अज्झयण वि सज्झाओ न हवइ।

कामोद्दीपक पुस्तको का, उपन्यास-कथा कहानी आदि का अध्ययन भी स्वाध्याय नही कहा जा सकता।

विसयासत्तिविणासकारीण गथाण एव अज्झयण सज्झाओ हवइ।

वास्तव मे विषयासक्ति दूर करने वाले ग्रन्थो का अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाता है।

सज्झाओ महतो तवो विज्जइ। सज्झायस्स सम अन्नतवो नत्थि—

स्वाध्याय महान तप है। स्वाध्याय के समान अन्य दूसरा तप नही है। जैसा कि कहा है—

न वि अत्थि न वि होहिइ, सज्झायसम तवो कम्म।

स्वाध्याय के समान अन्य तप न तो है, और न ही होगा।

तवस्स बारसभेएसु सज्झाओवि एगो।

तप के बारह भेदो मे स्वाध्याय भी एक है।

एसो अन्तरिओ तवो विज्जइ।

यह आभ्यन्तर तप है।

अणेण अप्पकम्माण णिज्जरा हवइ।

इससे आत्मा पर लगे हुए कर्मो की निर्जरा होती है।

उत्तराज्झयण सुत्ते भयव पुट्ठो—

उत्तराध्ययन सूत्र म भगवान से पूछा गया है—

सज्झाए ण भन्ते! जीवे कि जणयइ?

भन्ते! स्वाध्याय से जीव को क्या लाभ होता है?

भगवया कहिअ—

भगवान ने उत्तर दिया—

सज्झाएण जीवे नाणावरणिज्ज कम्म खवई।

स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्मो का नाश करता है।

सज्झाय कुणतो णरो अप्पणिग्गह करिउ पहवइ ।

स्वाध्याय करता हुआ मनुष्य आत्म-निग्रह (आत्म-सयम) करने मे समर्थ होता है ।

सो इदियाण उवरिं विजय पावइ ।

वह इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर लेता है ।

मणवयणकायाण पवत्तीण गुत्ति कुणइ ।

वह मन, वचन एव काया की प्रवृत्तियो की गुप्ति (सयम) कर सकता है ।

तस्समणो एगग्गो जायइ । सज्झाअ-रओ भिक्खू समाहित्थो हवइ, जहा भणिअ—

सज्झाय कुव्वतो पचेन्दिय—
सबुडो तिगुत्ते य ।
हवदि य एगग्गमणो
विणएण समाहिओ भिक्खू ॥

उसका मन एकाग्र हो जाता है । स्वाध्याय मे निरत (भिक्षु) समाधि म स्थित हो जाता है, जैसा कहा है—

पचेन्द्रिय से सवृत, तीन गुप्ति से गुप्त, विनयसमाधि से युक्त भिक्षु स्वाध्याय करता हुआ एकाग्र मन हो जाता है ।

भगवईसुत्ते उववाईसुत्ते य सज्झायस्स पचभेया वुच्चते—

भगवती सूत्र तथा उववाई सूत्र मे स्वाध्याय के पाँच भेद बताये है—

वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा य ।

वाचना, प्रतिपृच्छना, परिवतना, अनुप्रेक्षा, धमकथा ।

वायणाए सज्झाओ आरभइ ।

वाचना से स्वाध्याय का प्रारम्भ होता है ।

आगम गथाण सत्थाण य पढण-पाढण, सवण सावण वायणा हवइ ।

आगम ग्रन्थ एव शास्त्रो का पढना, पढाना, सुनना, सुनाना यह वाचना है ।

सकानिवारणत्थ गुरुतो पुच्छण पडिपुच्छणा कहिज्जइ ।

शका निवारण के लिए गुरुजनो से प्रश्न आदि पूछना प्रतिपृच्छा है ।

पढिअ पाढस्स पुणरावट्टण परिवट्टणा होइ ।

पढे हुए पाठ का पुन पुन आवतन दुहराना परिवतना है ।

सुअस्स पढिअस्स वा चितण अणुप्पेहा भवइ ।

पढे हुए श्रुत ज्ञान पर चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है ।

चित्तणतर किरियमाणा धम्मवट्टा धम्मकहा वुच्चइ ।

चिन्तन किये हुए विषय पर धम वार्ता-उपदेश करना धर्मकथा है ।

पचविहाण सज्झाण के लाहा त्ति जाणिअव्व ।

पाच प्रकार के स्वाध्याय के लाभ क्या है, यह भी जान लेना चाहिए—

साहणरूवे च्चिय अहुणा सज्झाय सद्दस्स अट्ठो अम्हाण अहिअ अभिट्ठो विज्जइ ।

वर्तमान मे हमे साधन रूप द्वितीय अर्थ मे स्वाध्याय अधिक इष्ट है, इच्छित है ।

धम्मगथाण अज्झाएण च्च जीवणस्स सम्म विगासो हवेज्ज । सो च्चिअ सज्झाओ ।

धर्म ग्रन्थो के अध्ययन से जीवन का सम्यक्—सम्पूर्ण रूप मे विकास होता है, इसलिए यह स्वाध्याय है ।

विज्जालयेसु महाविज्जालयेसु वीसविज्जालयेसु य कड अज्झयण ण सज्झाओ ।

विद्यालय, महाविद्यालय एव विश्वविद्यालय आदि मे की हुई पढाई स्वाध्याय नही कहलाती ।

तत्थ हु भोइअविसयाण सिक्खा लब्भिज्जइ ।

(क्योकि) वहा भौतिक (लौकिक) विषयो की शिक्षा दी जाती है ।

कामोद्दीवयपोत्थयाण उवन्नासकहाण य अज्झयण वि सज्झाओ न हवइ ।

कामोद्दीपक पुस्तको का, उपन्यास-कथा कहानी आदि का अध्ययन भी स्वाध्याय नही कहा जा सकता ।

विसयासत्तिविणासकारीण गथाण एव अज्झयण सज्झाओ हवइ ।

वास्तव मे विषयासक्ति दूर करने वाले ग्रन्थो का अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाता है ।

सज्झाओ महतो तवो विज्जइ । सज्झायस्स सम अन्नतवो नत्थि—

स्वाध्याय महान तप है । स्वाध्याय के समान अन्य दूसरा तप नही है । जैसा कि कहा है—

न वि अत्थि न वि होहिइ, सज्झायसम तवो कम्म ।

स्वाध्याय के समान अन्य तप न तो है, और न ही होगा ।

तवस्स बारसभेएसु सज्झाओवि एगो ।

तप के बारह भेदो मे स्वाध्याय भी एक है ।

एसो अन्तरिओ तवो विज्जइ ।

यह आभ्यन्तर तप है ।

अणेण अप्पकम्माण णिज्जरा हवइ ।

इससे आत्मा पर लगे हुए कर्मो की निर्जरा होती है ।

उत्तराज्झयण सुत्ते भयव पुट्ठो—

उत्तराध्ययन सूत्र मे भगवान से पूछा गया है—

सज्झाए ण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

भन्ते ! स्वाध्याय से जीव को क्या लाभ होता है ?

भगवया कहिअ—

भगवान ने उत्तर दिया—

सज्झाएण जीवे नाणावरणिज्ज कम्म खवई ।

स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्मो का नाश करता है ।

सज्झाय कुणतो णरो अप्पणिग्गह करिउ पहवइ ।	स्वाध्याय करता हुआ मनुष्य आत्म-निग्रह (आत्म सयम) करने मे समर्थ होता है ।
सो इदियाण उवरिं विजय पावइ ।	वह इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर लेता है ।
मणवयणकायाण पवत्तीण गुत्ति कुणइ ।	वह मन, वचन एव काया की प्रवृत्तियो की गुप्ति (सयम) कर सकता है ।
तस्समणो एगग्गो जायइ । सज्झाअ-रओ भिक्खू समाहिट्ठओ हवइ, जहा भणिअ—	उसका मन एकाग्र हो जाता है । स्वाध्याय मे निरत (भिक्षु) समाधि मे स्थित हो जाता है, जैसा कहा है—
सज्झाय कुव्वतो पचेन्दिय — सवुडो तिगुत्ते य । हवदि य एगग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥	पचेन्द्रिय से सवृत, तीन गुप्ति से गुप्त, विनयसमाधि से युक्त भिक्षु स्वाध्याय करता हुआ एकाग्र मन हो जाता है ।
भगवईसुत्ते उववाईसुत्ते य सज्झाय-स्स पचभेया वुच्चते—	भगवती सूत्र तथा उववाई सूत्र मे स्वाध्याय के पांच भेद बताये है—
वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा य ।	वाचना, प्रतिपृच्छना, परिवतना, अनुप्रेक्षा, धमकथा ।
वायणाए सज्झाओ आरभइ ।	वाचना से स्वाध्याय का प्रारम्भ होता है ।
आगम गथाण सत्थाण य पढण-पाढण, सवण सावण वायणा हवइ ।	आगम ग्रन्थ एव शास्त्रो का पढना, पढाना, सुनना, सुनाना यह वाचना है ।
सकानिवारणत्थ गुरुतो पुच्छण पडिपुच्छणा कहिज्जइ ।	शका निवारण के लिए गुरुजनो से प्रश्न आदि पूछना प्रतिपृच्छा है ।
पढिअ पाढस्स पुणरावट्टण परि-वट्टणा होइ ।	पढे हुए पाठ का पुन पुन आवतन दुहराना परिवतना है ।
सुअस्स पढिअस्स वा चितण अणुप्पेहा भवइ ।	पढे हुए श्रुत ज्ञान पर चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है ।
चितणतर किरियमाणा धम्मवट्टा धम्मकहा वुच्चइ ।	चिन्तन किये हुए विषय पर धर्म वार्ता-उपदेश करना धर्मकथा है ।
पचविहाण सज्झाण के लाहा त्ति जाणिअव्व ।	पाच प्रकार के स्वाध्याय के लाभ क्या है, यह भी जान लेना चाहिए—

१ सत्थभासिअवयणाणुसार वायणाए जीवो णिज्जर जणयइ ।	१ शास्त्र-भाषित वचनो के अनुसार वाचना करने से कर्मों की निर्जरा होती है ।
२ पडिपुच्छणाए सुत्तत्थतदुभयाइ विसोहेइ ।	२ प्रतिपृच्छना से सूत्र एव अर्थ-तथा इन दोनो को शुद्ध दोष रहित करता है ।
३ परियट्टणाए ण वजणाइ जणयइ, वजणलद्धि य उप्पाएइ ।	३ परिवतना (परावतन) से व्यञ्जन (शब्दपाठ) स्थिर होता है । और पदानुसारिता आदि व्यञ्जनलब्धि को प्राप्त करता है ।
४ अणुप्पेहाए ण आउयवज्जाओ सत्तकम्मपयडीओ घणियबधण बद्धाओ सिढिल वधण बद्धाओ पकरेइ ।	४ अनुप्रेक्षा से—आयुष्यकम को छोडकर अन्य सात कमप्रकृतियो के गाढ बन्धन को शिथिल बन्धन वाली करता है ।
५ धम्मकहाए ण णिज्जर जणयइ, धम्मकहाएण पवयण पभावेइ ।	५ धर्म कथा से कम-निर्जरा तथा प्रवचन की प्रभावना करता है ।
ठाणागसुत्ते दुविह धम्मे पण्णत्ते—सुयधम्मे य चरित्तधम्मे ।	स्थानाग सूत्र मे धर्म के दो प्रकार बताये हैं—श्रुतधर्म तथा चारित्रधम ।
सुय सरूव उत्त—सुयधम्मो सज्झाओ ।	श्रुतधर्म का स्वरूप इस प्रकार बताया है—श्रुतधम स्वाध्याय रूप है ।
सज्झाए वायणा किमट्ठ करणिज्जात्ति ठाणागे एव कहिअ—	स्वाध्याय मे वाचना क्यो करना चाहिए, इस विषय मे स्थानाग सूत्र (५ सूत्र २२३) मे कहा है—
पचहि ठाणेहि सुत्त वाएज्जा तजहा-	पांच कारणो से सूत्र-वाचना (अध्यापन) कराना चाहिए । जैसे—
१ सगहट्ठयाए ।	१ सग्रह के लिए—शिष्यो को श्रुत सम्पन्न करने के लिए ।
२ उवग्गहणट्ठयाए ।	२ उपग्रह के लिए—भक्त, पान तथा उपकरण आदि की विधिवत् उपलब्धि कर सके, वैसी क्षमता—पात्रता उत्पन्न करने के लिए ।
३ णिज्जरणट्ठयाए ।	३ कम निजरा के लिए ।

४ सुत्तं वा मे पज्जवाए भविस्सइ।	४ अध्यापन से मेरा श्रुत—पर्यवसित—विकसित या सुस्थिर हो जायेगा, इसलिए तथा—
५ सुत्तस्स वा अविच्छित्तिणयट्ठयाए।	५ श्रुत परम्परा को अविच्छिन्न रखने के लिए
सुत्ताण सिक्खण किमट्ठ करणिज्ज ? एअस्स पण्हस्सावि समाहाण कड। जहा—पचहि ठाणेहि सुत्त सिक्खेज्जा तजहा—	सूत्र (श्रुत) का शिक्षण—अध्यापन-अध्ययन क्यो करना चाहिए ? इस विषय मे भी समाधान करते हुए कहा है—
१ णाणट्ठयाए।	१ ज्ञान के लिए—नवीन-नवीन विषयो तत्वो का ज्ञान करने के लिए
२ दसणट्ठयाए।	२ दर्शन के लिए—श्रद्धा (सम्यग् दर्शन) की सम्पुष्टि के लिए
३ चरित्तट्ठयाए।	३ चारित्र के लिए—आचार की विशुद्धि के लिए
४ वुग्गहविमोयणट्ठयाए।	४ व्युद्ग्रह-विमोचन के लिए—दूसरो को मिथ्या अभिनिवेश या कदाग्रह आदि से मुक्त करने के लिए
५ जहत्थे वा भावे जाणिस्समीत्ति कट्टु।	५ मैं यथार्थ (वास्तविक) भावो (तत्वो) को जानूगा इसलिए।
उवणिसएसु वि सज्झाये पमाओ निसिद्धो।	उपनिषद (वैदिक साहित्य) मे भी स्वाध्याय मे प्रमाद करने का निषेध किया है।
अज्झयणतर गच्छतो छात्तो कहिज्जइ—'स्वाध्यायान्मा प्रमद।'	अध्ययन सम्पन्न करके जाते हुए शिष्य छात्र को गुरु कहते है—स्वाध्याय मे प्रमाद मत करना।
सज्झाए दत्तमाणसेण मणूसेण सव्वदुहाण णासो करिउ सभवइ।	स्वाध्याय मे जिसका चित्त लग गया है, वह मनुष्य सब दुखो का नाश कर सकता है।
जीवेण सम्म णाण च्चिअ सज्झाएण उवलब्भोअइ।	स्वाध्याय से जीव सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है।
उम्मग्गे भमियाण जणाण सज्झाओ एव दीवोत्थि।	उन्मार्ग मे भटकते हुए जीवो के लिए स्वाध्याय दीपक तुल्य है।

(शेष पृष्ठ ३५ पर)

सर्वश्रेष्ठ स्वाध्याय का माध्यम—सूत्र

साधारण स्वाध्याय मे ऐसे किसी सद्ग्रन्थ को सम्मिलित किया जा सकता है, जो तप सयम, क्षमा और अहिसा आदि भावो को जागृत एव पुष्ट करता हो। परन्तु उन आध्यात्मिक ग्रन्थो मे भी द्वादशागी के आश्रित सूत्रो का पठन-पाठन ही सर्वश्रेष्ठ स्वाध्याय कहा जा सकता है। सूत्र मे आप्त पुरुषो की अनुभव-वाणी का प्रवाह होता है जो निस्सन्देह आत्म-गुणो को विकसित करने का कारण होता है। सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि—

"सूत्र्यते परमार्थ तत्वनि यत्र तत् सूत्रम्।"—अर्थात् जिसमे आत्मा परमात्मा आदि पारमार्थिक तत्व गूँथे जाये, वह सूत्र है।

"सूचनात् सूत्रम्"—जो विधि-निषेध की सूचना करे, ऐसा करो, ऐसा मत करो—इस प्रकार जिससे साधना मार्ग का निर्देश प्राप्त हो, वह सूत्र है।

"अल्पाक्षर विशिष्टत्वे सति बह्वर्थबोधकत्व सूत्रत्वम्।"—अर्थात् जहाँ अक्षर थोडे और अर्थ-बोध अधिक हो, उसे सूत्र कहते हैं।

धागे मे मोती की तरह जिसमे अरिहन्त देव के वचनो को पिरोया जावे। मोती के मनके जैसे सूत मे पिरोये जाते हैं, इसी तरह जिन पदो मे वीतराग वचनो का सग्रह किया जावे, उसे भी सूत्र कहते है। जैसा कि आचार्यों ने कहा है—

अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गथति गणहरा निउणा।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पव्वत्तइ॥

अर्थात्—अरिहत अर्थ का कथन करते, गणधर उनको निपुणता से सूत्र रूप मे ग्रन्थन करते हैं। फिर शासन के हित के लिए सूत्र की प्रवृत्ति होती है। फिर कहा है कि—

अप्पगथमहत्थ, वत्तीसा-दोसविरहिय ज च।
लक्खण-जुत्त सुत्त, अट्ठहि य गुणेहि उववेय॥

अर्थात्—जो ग्रन्थ से अल्प और अर्थ मे महान्-विशाल और ३२ दोषो से रहित हो, तथा आठ गुणो से युक्त हो, वह लक्षण युक्त होता है।

सूत्रों के भेदोपभेद—

(१) उत्सर्ग सूत्र—जिसमें किसी वस्तु का सामान्य-विधान किया गया हो, जैसे—"नो कप्पइ निग्गथाण वा णिग्गथीण वा आमे ताल-पलंवे पडिगाहित्तए।"

(२) अपवाद सूत्र—जो उत्सर्ग का बाधक हो, यथा—कप्पइ णिग्गथाण वा णिग्गथीण वा पक्के ताल-पलंवे भिण्णे वा अभिण्णे वा पडिगाहित्तए।"

(३) उत्सर्गापवाद—जिनमें दोनों हों, जैसे—नो कप्पइ णिग्गथाण वा णिग्गथीण वा पारियासियस्स णण्णत्थ आगाढेहि रोगा य।

(४) प्रकरण सूत्र—जिसका प्रकरणानुसार नाम हो, जैसे—काविलीय, केसिगोयमिज्ज इत्यादि।

(५) संज्ञा सूत्र—जिसमें सामान्यतया किसी विषय का वर्णन हो, काविलीय केसिगोयमिज्ज इत्यादि।

□□

(शेष पृष्ठ ३३ का)

अस्स पगासे मणूसो सुमग्ग अणवेसिउ पहवइ।

इसके प्रकाश में मनुष्य सन्मार्ग का अन्वेषण कर सकता है।

सज्झायसीलो मणूसो अधयार विणासइ, पयास य लब्भेइ।

स्वाध्यायशील मनुष्य अन्धकार का नाश कर—प्रकाश प्राप्त करता है।

रागदोसाण अतोवि सज्झाएण च्व भविउ सक्कइ।

स्वाध्याय से ही राग-द्वेष का अन्त हो सकता है।

सच्च खु सज्झायाणतर जीवण निम्मल भवइ।

सत्य है, स्वाध्याय से ही जीवन निर्मल होता है।

सज्झाएण च्चिय विसुद्धा किरिया, विसुद्ध चरिय। विसुद्ध सामाइय च भवति।

स्वाध्याय से ही क्रिया विशुद्ध होती है, चारित्र विशुद्ध होता है, सामायिक विशुद्ध होती है।

अओ सज्झाओ जीवणस्स पयाम-पुजोत्थि।

अत यह सत्य है—स्वाध्याय ही जीवन का प्रकाश पुज है।

—अनुवाद

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

सर्वश्रेष्ठ स्वाध्याय का माध्यम—सूत्र

साधारण स्वाध्याय मे ऐसे किसी सद्ग्रन्थ को सम्मिलित किया जा सकता है, जो तप, सयम, क्षमा और अहिंसा आदि भावो को जागृत एव पुष्ट करता हो। परन्तु उन आध्यात्मिक ग्रन्थो मे भी द्वादशागी के आश्रित सूत्रो का पठन-पाठन ही सर्वश्रेष्ठ स्वाध्याय कहा जा सकता है। सूत्र मे आप्त पुरुषो की अनुभव-वाणी का प्रवाह होता है जो निस्सन्देह आत्म-गुणो को विकसित करने का कारण होता है। सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि—

"सूत्र्यते परमार्थ तत्वनि यत्र तत् सूत्रम्।"—अर्थात् जिसमे आत्मा परमात्मा आदि पारमार्थिक तत्व गूँथे जाये, वह सूत्र है।

"सूचनात् सूत्रम्"—जो विधि-निषेध की सूचना करे, ऐसा करो, ऐसा मत करो—इस प्रकार जिससे साधना मार्ग का निर्देश प्राप्त हो, वह सूत्र है।

"अल्पाक्षर विशिष्टत्वे सति बह्वर्थबोधकत्व सूत्रत्वम्।"—अर्थात् जहाँ अक्षर थोडे और अर्थ-बोध अधिक हो, उसे सूत्र कहते है।

धागे मे मोती की तरह जिसमे अरिहन्त देव के वचनो को पिरोया जावे। मोती के मनके जैसे सूत मे पिरोये जाते है, इसी तरह जिन पदो मे वीतराग वचनो का सग्रह किया जावे, उसे भी सूत्र कहते है। जैसा कि आचार्यो ने कहा है—

अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गथति गणहरा निउणा।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पव्वत्तइ॥

अर्थात्—अरिहत अर्थ का कथन करते, गणधर उनको निपुणता से सूत्र रूप मे ग्रन्थन करते है। फिर शासन के हित के लिए सूत्र की प्रवृत्ति होती है। फिर कहा है कि—

अप्पगथमहत्थ, बत्तीसा-दोसविरहिय ज च।
लक्खण-जुत्ता सुत्ता, अट्ठहि य गुणेहि उववेय॥

अर्थात्—जो ग्रन्थ से अल्प और अर्थ मे महान्-विशाल और ३२ दोषो से रहित हो, तथा आठ गुणो से युक्त हो, वह लक्षण युक्त सूत्र होता है।

स्वाध्याय : समुद्देशः

—श्री प्रकाशचन्द जैन
(जलगाँव)

आधिव्याध्युपाधिसन्तप्ते जन्मजरामरणाक्रान्ते अस्मिन् असार ससारे जीवा स्वकर्मणा सुखानि दु खानि च प्राप्नुवन्ति। मोहाज्ञानाभ्याम् जीवोऽष्टविधकर्माणि बध्नाति। द्वादशविधतपोग्निना पूर्वबद्धकर्माणि क्षपयित्वा अव्याबाधसुख प्राप्तु शक्नोति। स्वाध्यायोऽपि एक तपोऽस्ति। आगमानुसारेण साधुभि अहनि चतुर्याम स्वाध्याय करणीय। आगारधर्मानुपालकस्य श्रावकस्य एते षडावश्यककर्माणि सन्ति—

देवार्चा गुरुशुश्रूषास्वाध्याय सयमस्तप।
ध्यान चेति गृहस्थाणम्, षट् कर्माणि दिने दिने॥

एतेषु षडावश्यककर्मसु स्वाध्यायोऽपि एकमावश्यक कर्म अस्ति। अत सर्वे जनै अवश्य स्वाध्याय करणीय।

स्वाध्याय शब्दस्य मुख्यत द्वौ अर्थौ स्त। आद्य—सु+आङ्+अधि+इ धातो घञ् प्रत्यययोगेन स्वाध्याय इति शब्द सिद्ध। तेन **सुशास्त्राणाम् मर्यादापूर्वक यत् अध्ययन क्रियते स स्वाध्याय** इति कथ्यते।

द्वितीयार्थस्त्वयम्—**स्वस्य अध्ययन**—कोऽहमस्मि। कस्मात् स्थानात् अत्र आगच्छम् किंकर्त्तव्यम्, मया इत कुत्र गमिष्यामि, अस्माकम् धर्म सस्कृतिश्च किं, धनोपार्जनम् कीदृश कर्त्तव्यम् इत्यादि स्वानुप्रेक्षा स्वाध्याय इति अभिधीयते। **अर्थात् आत्मना आत्मनो अध्ययन स्वाध्याय इति कथ्यते।**

तत्त्वार्थादिषु शास्त्रेषु आचार्यै स्वाध्याय पचविध प्रकीर्तित तद्यथा—वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेशा।

अहिंसा क्षमा दया दानादिषुरुच्युत्पादकानाम् सच्छास्त्राणाम् पठनम्-वाचना। पठने आगतानाम् कठिनशब्दानाम् अर्थानाम् च गुरो समीपे पृच्छनम्—पृच्छना। भावार्थस्य चिन्तनमनुप्रेक्षा। अधिगतार्थस्य पुनरावृत्ति आम्नाय। सरलावबोधनार्थं महापुरुषाणाम् कथादिकरणम् धर्मकथा।

जीवने स्वाध्यायस्य महाफल अस्ति। श्रीमदुत्तराध्ययनस्य एकोनत्रिंशेऽध्ययने भगवता गौतमेन भगवान् महावीर पृष्ट —

स्वाध्यायेन, भदन्त ! जीव कि जनयति ।

भगवान् महावीर उक्तवान्—

स्वाध्यायेन, गौतम ! जीव ज्ञानावरणीय कर्म क्षपयति ।

इतरधर्मग्रन्थै अपि स्वाध्यायमहिमा गीयते । उपदेशकल्पवल्याम् ग्रन्थे—चतुर्वार विधातव्य स्वाध्यायोऽयमहर्निशम् । उपनिषदि—यायान्न प्रमदितव्यम् इति उक्त्वा स्वाध्यायो जीवनस्य अत्यावश्यक रस्ति इति दर्शितम् । स्वाध्यायेन चित्तस्य एकाग्रता वर्धते, मनसि शुभ-ल्प आयाति तेन स्वास्थ्य च प्राप्नोति ।

❀❀

तीन दुर्बोध्य तीन सुबोध्य

तओ दुसण्णप्पा पण्णत्ता	तओ सुसण्णप्पा पण्णत्ता
१ दुट्ठे	१ अदुट्ठे
१ मूढे	२. अमूढे
३ वुग्गाहिए	३ अवुग्गाहिते

—स्थानांग सूत्र ३/४७८

तीन प्रकार के व्यक्ति को बोध देना कठिन है—

१ दुष्ट—मलिन स्वभाव वाला
२ मूढ—गुण-दोष के विवेक से शून्य
३ व्युद्ग्राहित—अन्य कलह प्रियव्यक्ति द्वारा भड़काया/उकसाया हुआ ।

इसके विपरीत तीन व्यक्ति सुबोध्य(बोध देना सरल) है—

१. अदुष्ट — सरल हृदय
२ अमूढ — विवेक एव ज्ञानवान
३ अव्युद्ग्राहित — शान्तिप्रिय

('आगम मुक्ता' से सकलित) ।

अध्ययन मनुष्य की बुद्धि को विकसित करता है, मेधा को पुष्ट करता है तो स्वाध्याय—मनुष्य की आत्म शक्ति को विकसित करके आत्मज्ञान के द्वार खोलता हे ।

भ० महावीर ने कहा है—

स्वा
ध्या
य

सज्जाए वा निउत्तेण सव्व दुक्ख विमोक्खणे
—उत्तरा २६ अ गा १०

गुरु स्वा०याय की आज्ञा दे तो सर्व दुखो से मुक्त करने वाला स्वा०याय करे ।

स्वाध्याय वह सजीवनी जडी है, जो शास्त्रो के

आत्मानुभूति की कला

—उपाध्याय श्री केवल मुनि

द्रोणाचल पर पैदा होती है, किन्तु कोई विरला हनुमान ही इसे लाने मे समर्थ होता है ।

चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र मे कहा गया है—

न वि अत्थि य न वि य होई सज्झाएण सम तवोकम्म ।

/स्वाध्याय के समान न तो कोई दूसरी तपस्या है, और न ही भविष्य मे होगी—यह एक अद्वितीय तप है, अनूठी साधना है । इस साधना के द्वारा अनेक जन्मो के सचित दुष्कर्म क्षणभर मे विनष्ट हो जाते है/ जैसे रुई का ढेर आग की एक चिगारी से भस्म हो जाता है, लाखो करोडो घन मीटर सघन अन्धकार सूर्य की एक किरण से समाप्त हो जाता है, वैसे ही स्वाध्याय—तप के द्वारा करोडो कर्म क्षय हो जाते है[1] ।

स्वाध्याय कर्म क्षय करने के साथ आत्मा को शुद्ध भी करता है । दशवैकालिक सूत्र का वचन है, कि जैसे अग्नि मे तपाने से सोने-चॉदी का मैल दूर होकर वह विशुद्ध हो जाता है वैसे ही स्वाध्याय-सद्०यान करने से आत्मा की शुद्धि होती है । ज्ञानावरण के सघन वादल छँटते है, ज्ञान का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है ।[2]

---

१ बहुभवे सचिय कम्म सज्झाएण खणे खवेई— चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र—९१

२ दशवैकालिक ८।६३

यू तो स्वाध्याय की परम्परा ने ही भारतीय आत्मविद्या को जीवित रखा है। वेद, उपनिषद्, आगम ये सभी स्मृति के आधार पर चले आ रहे है। स्वाध्याय के वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा —ये पाँच अग है और इन्ही पचागो के आधार पर अगाध रत्न राशि सुरक्षित रही है।

स्वाध्याय के अभाव मे ज्ञान लुप्त हो जाता है। एक पहेली है—

पान सडे घोडा अडे विद्या विसर जाय।
तवे पर रोटी जले, कहो चेला किण न्याय॥
गुरुजी, फेर्‌यो नही!

पान को पलटा नही जाये तो वह सड जाता है, घोडे को फिराया नही जाय तो वह खडा-खडा अकड जाता है, तवे पर रोटी रखकर फेरे नही तो जल जाती है, वैसे ही ज्ञान पढकर उसे चितारे नही, परिवर्तना नही करे तो वह भूल जाता है।

आज हमारे आगमो की विशाल ज्ञानराशि लुप्त क्यो हो गई? आगम के ज्ञान रत्न विच्छिन्न कैसे हो गये? प्राचीन विद्याएँ विस्मृत क्यो हो गई? स्वाध्याय के अभाव मे ही।

स्वाध्याय वह रथ है, जिस पर आरूढ होकर ज्ञान रूपी सारथी, युग-युग की यात्रा करता रहता है।

स्वाध्याय का अर्थ—

अध्ययन का अर्थ है पढना, आजकल स्वाध्याय का अर्थ अच्छी पुस्तके पढना भी करते है। यह लौकिक अर्थ है। किन्तु लोकोत्तर अर्थ मे स्वाध्याय का अर्थ है—अच्छे ढग से अच्छे शास्त्र पढना।

सुष्ठु-आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्याय

—अभयदेवसूरि स्थानाग टीका

सत् शास्त्र को मर्यादापूर्वक, विधिपूर्वक पढना स्वाध्याय है।

हर किसी पुस्तक को चाटना, स्वाध्याय नही वन सकता। स्वाध्याय के लिए कुछ मानदण्ड हैं। जिन्हे याद रखना जरूरी है—

स्वाध्याय मे एकाग्रता, नियमितता, लक्ष्य की पवित्रता और निर्विकारता ये चार वाते आवश्यक है।

१ **स्वाध्याय के लिए स्थिर आसन से मन को एकाग्र करके बठिए** जिस पुस्तक को पढ रहे है जिस शास्त्र का अवलोकन कर रहे है उसी पर दृष्टि स्थिर कीजिए। यदि स्मरण-चिन्तन कर रहे तो मन की आँखों में

उस वस्तु का चित्र सामने रखिए। आपको वही पुस्तक, वही ध्येय सामने दिखाई दे, यह स्वाध्याय का पहला नियम है।

२ **स्वाध्याय नियमित होना चाहिए** उसमे निरन्तरता बनी रहनी चाहिए। एक दिन किया एक दिन छोडा—इससे न तो स्वाध्याय का आनन्द आता है और न उसमे कोई चमत्कार पैदा होता है।

आयुर्वेदिक औषधियो के निर्माण मे यह नियम है कि जब उन्हे घोटना या पीसना चालू करते है तो निरन्तर उनकी घुटाई चलती रहनी चाहिए। चौसठ प्रहरी पीपल बनती है तो चौसठ प्रहर तक बिना व्यवधान के उसकी घुटाई चलती है, और तभी उसमे वह शक्ति पैदा होती है। यदि बनाने की विधि मे दोष आ गया, निरन्तरता खण्डित हो गई तो फिर औषध मे वह गुण नही आयेगा जो आना चाहिए। औषध तो जड वस्तु है, किन्तु स्वाध्याय तो चेतन की क्रिया है, इस क्रिया मे समय की पाबन्दी, नियमितता और निरन्तरता बहुत आवश्यक है। निरन्तर स्वाध्याय करने वाले का स्वाध्याय तेजस्वी और प्रभावकारी सिद्ध होता है।

३ **लक्ष्य की पवित्रता**—स्वाध्याय धार्मिक ग्रन्थो का किया जाता है। अत स्वाध्याय के लिए ऐसे उत्तम ग्रन्थो का चयन कीजिए जिनमे आत्मा की पवित्रता, कषायो की प्रेरणा भरी हो। कूडा-कर्कट उठा कर पढना स्वाध्याय नही है। जिस स्वाध्याय से आपकी भावना मे स्फुरणा हो, मन मे परिवर्तन हो, भावो मे विशुद्धि या निर्मलता आती हो और ऐसा लगता हो कि आप सचमुच कोई ऐसी चीज पढ रहे है जो आपकी आत्मा तक पहुँच रही है। यही स्वाध्याय की सार्थकता या कसौटी है।

४ **स्वाध्याय की चौथी शर्त है—निर्विकारता**। मन को भौतिक कामना, लालसा और विषयेच्छाओ से मुक्त करके निर्विकार बनाइये। जैसे पूजा के लिए स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर पुजारी मन्दिर मे जाता है उसी प्रकार स्वाध्याय के मन्दिर मे प्रवेश करते समय मन का सब मैल साफ कर लीजिए। लोभ-लालच आदि विकारो के अशुद्ध वस्त्र उतार लीजिए। मन को पवित्र, निर्विकार और शान्त अनुभव करते हुए स्वाध्याय प्रारम्भ कीजिए और जब तक मन स्थिर रहे, आनन्द की अनुभूति जगती रहे इस क्रम को चालू रखिए।

यदि इन चार नियमो को ध्यान मे रखकर आप स्वाध्याय करेगे तो आपको अपना लक्ष्य, इष्ट अवश्य ही प्राप्त होगा। महर्षि पतजलि ने स्वाध्याय की इसी स्थिति के लिए कहा है—

स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोग —योग दर्शन

स्वाध्याय से अपने इष्टदेव का साक्षात्कार किया जा सकता है।

यह इष्टदेव, मनवाछित फल तभी प्राप्त हो सकता है जब स्वाध्याय मे तन्मयता और निर्विकारता आदि वाते हो।

इसलिए स्वाध्याय कीजिए, अपने आपको पाने के लिए, अपने लक्ष्य को वेधने के लिए नियमित स्वाध्याय कीजिए। स्वाध्याय से आत्मानुभूति कर प्रफुल्लता का अनुभव कीजिए।

('जीने की कला' से साभार)

ससार से पार होने के तीन उपाय

तिहि ठाणेहि ससार कतार वीईवएज्जा,

१ अणिदाणयाए

२ दिट्ठ सपणयाए

३ जोगवाहियाए

—स्थानाग ३, सूत्र ८८

तीन कारणो से चतुर्गति रूप ससार कान्तार को पार किया जाता है—जैसे

१ अनिदानता—साधना मे भोग प्राप्ति के लिए सकल्प नही करने से

२ दृष्टि सम्पन्नता—सम्यग् दृष्टि सम्पन्न होने से

३ योगवाहिता—योग का वहन करने या चित्तसमाधि की विशिष्ट साधना करने से

(—'आगम मुक्ता' से सकलित)

संक्षिप्त : अर्धमागधी-व्याकरण

—संकलित

व्याकरण—

भाषा की शुद्धाशुद्धि का बोध, शब्द एव वाक्य गठन के नियम तथा शब्दो के विविध अर्थ आदि का ज्ञान कराने वाला शास्त्र व्याकरण है।

व्याकरण की रचना प्राचीन काल से होती रही है। दृष्टिवाद नामक १२वे अग मे १४ पूव सनिविष्ट थे। पूर्व मे 'वस्तु' एव 'प्राभृत' नाम से दो विभाग होते थे। आवश्यकचूर्णि आदि ग्रन्थो के अनुसार १४ पूर्व मे 'शब्द प्राभृत' (सद्द पाहुड) नामक एक पूर्व था। तत्वार्थ सूत्र भाष्य टीकाकर्त्ता सिद्ध सेन गणि के अनुसार 'शब्द प्राभृत' से व्याकरण का उद्भव हुआ। 'शब्द प्राभृत' लुप्त हो गया किन्तु उसमे उद्भूत व्याकरण का ज्ञान आज विद्यमान है। सस्कृत—प्राकृत—अधमागधी आदि भाषाओ के अनेक व्याकरण आज मिलते है। इनमे आचार्य हेमचन्द्रकृत 'प्राकृत व्याकरण' प्राकृत भाषा का सबसे प्राचीन, प्रामाणिक तथा विशाल व्याकरण हे। इसके पश्चात् शतावधानी मुनिश्री रतनचन्द्रजी महाराज ने वि० स० १९९५ मे अधमागधी व्याकरण की रचना की। विशेष जिज्ञासुओ के लिए उक्त व्याकरण पठनीय हे।

यहाँ हम व्याकरण के सामान्य नियम दे रहे है। पाठक इनको समझकर भाषा ज्ञान प्राप्त करने मे प्रयत्नशील होगे।

स्वरो का प्रयोग

१, अर्धमार्गधी मे 'ऋ' 'लृ' ऐ, औ, का प्रयोग नही होता।

२ सयुक्त व्यजन से पूर्व दीर्घ स्वर के स्थान मे ह्रस्व का प्रयोग होता है—जैसे—आम्र = अब इत्यादि।

३ 'ऋ' के स्थान मे 'अ' और कही कही 'इ' 'उ' और 'रि' भी होता है। जैसे—घृत=घय, कृपा=किवा, स्पष्ट = पुट्ठ, ऋद्धि = रिद्धि।

४ 'लृ' के स्थान मे 'इलि' होता है, जैसे—क्लृप्त = किलित्त।

५ सयुक्त व्यजन से पूर्व 'इ' और 'उ' के स्थान मे 'ए' और 'ओ' का प्रयोग प्राय होता है, जैसे—विल्व=वेल्व, पुष्करिणी=पोक्खरिणी।

६ 'ऐ' और 'औ' के स्थान मे 'ए' 'अइ' और 'ओ' 'अउ' होता है। जैसे - वैद्य = वेज्ज, वैशाख = वइसाह, यौवन = जोव्वण, पौर = पउर, विशेष—सौन्दर्यम् = सुदेर, दौवारिक = दुवारिओ, गौरव = गारव, गउरव, नौ = नावा इत्यादि।

व्यजनो का प्रयोग

१ 'म्ह 'ण्ह' और ल्ह के अतिरिक्त विजातीय सयुक्त व्यजन प्रयुक्त नही होते, जैसे—पक्व = पक्के।

२ स्वर रहित केवल व्यजन का प्रयोग नही होता, जैसे—राजन् = राय, तमस् = तम।

सयुक्त व्यजनो मे परिवर्तन

१ क्त—क्य—क्र—क्ल—क्व, त्क—र्क—ल्क के स्थान मे 'क्क' होता है। जैसे—मुक्त = मुक्क, शाक्य = सक्क, शक्र = सक्क, विक्लव = विक्कव, पक्व = पक्क, उत्कंठा = उक्कठा, अर्क = अक्क, वल्कल = वक्कल।

२ ख—क्ष—ख्य—क्ष्य—त्क्ष—त्ख—ष्क—स्क—स्ख के स्थान मे 'क्ख' होता है। जैसे—दु ख = दुक्ख, मक्षिका = मक्खिया, मुख्य = मुक्ख, भक्ष्य = भक्ख, उत्क्षिप्त = उक्खित्त, उत्खात = उक्खाय, पुष्कर = पोक्खर, प्रस्कदन = पक्खदण, प्रस्खलित = पक्खलिय।

३ ग्न—ग्म—ग्य—ड्ग—द्ग—र्ग—ल्ग के स्थान मे 'ग्ग' होता है। जैसे—सविग्न = सविग्ग, युग्म = जुग्ग, आरोग्य = आरोग्ग, समग्र = समग्ग, खड्ग = खग्ग, मुद्ग = मुग्ग, मार्ग = मग्ग, वल्ग = वग्ग।

४ घ्न—घ्र—द्घ—र्घ के स्थान मे 'ग्घ' होता है। जैसे—कृतघ्न = कयग्घ, शीघ्र = सिग्घ, उद्घाटन = उग्घाडण, दीर्घ = दिग्घ।

५ च्य, त्य—त्व, थ्य—र्च के स्थान मे 'च्च' होता है। जैसे—वाच्य = वच्च, अपत्य = अवच्च, कृत्वा = किच्चा, तथ्य = तच्च, वर्च = वच्च।

६ थ्य—क्ष—क्ष्म—छ्—त्स—त्स्य—प्स—च्छ—श्च—स्त के स्थान मे 'च्छ' होता है। जैसे—लक्ष्य = लच्छ, दक्ष = दच्छ, लक्ष्मी = लच्छी, कृच्छ्र = किच्छ, वत्सल = वच्छल, मत्स्य = मच्छ, नेपथ्य = नेवच्छ, अप्सरा = अच्छरा, मूर्च्छा = मुच्छा, पश्चात् = पच्छा, विस्तीर्ण = विच्छिन्न।

७ ज्य—ज्र, ज्व—द्य—द्व—ब्ज—य्य—र्य—र्ज—र्ज्य के स्थान मे 'ज्ज' होता है, जैसे—विभाज्य = विभज्ज, वज्र = वज्ज, प्रज्वलित = पज्जलिय, अनवद्य = अणवज्ज, विद्वान् = विज्ज, अब्ज = अज्ज, शय्या = सिज्जा, आर्या = अज्जा, तर्जनी = तज्जणी, वर्ज्य = वज्ज।

संक्षिप्त : अर्धमागधी-व्याकरण

—संकलित

व्याकरण—

भाषा की शुद्धाशुद्धि का बोध, शब्द एव वाक्य गठन के नियम तथा शब्दो के विविध अर्थ आदि का ज्ञान कराने वाला शास्त्र व्याकरण है।

व्याकरण की रचना प्राचीन काल से होती रही है। दृष्टिवाद नामक १२वे अग मे १४ पूव सनिविष्ट थे। पूर्व मे 'वस्तु' एव 'प्राभृत' नाम से दो विभाग होते थे। आवश्यकचूर्णि आदि ग्रन्थो के अनुसार १४ पूर्व मे 'शब्द प्राभृत' (सद्द पाहुड) नामक एक पूर्व था। तत्वार्थ सूत्र भाष्य टीकाकर्त्ता सिद्ध सेन गणि के अनुसार 'शब्द प्राभृत' से व्याकरण का उद्भव हुआ। 'शब्द प्राभृत' लुप्त हो गया किन्तु उसमे उद्भूत व्याकरण का ज्ञान आज विद्यमान है। सस्कृत—प्राकृत—अधमागधी आदि भाषाओ के अनेक व्याकरण आज मिलते हैं। इनमे आचाय हेमचन्द्रकृत 'प्राकृत व्याकरण' प्राकृत भाषा का सबसे प्राचीन, प्रामाणिक तथा विशाल व्याकरण है। इसके पश्चात् शतावधानी मुनिश्री रतनचन्द्रजी महाराज ने वि० स० १९९५ मे अर्धमागधी व्याकरण की रचना की। विशेष जिज्ञासुओ के लिए उक्त व्याकरण पठनीय ह।

यहाँ हम व्याकरण के सामान्य नियम दे रहे है। पाठक इनको समझकर भाषा ज्ञान प्राप्त करने मे प्रयत्नशील होगे।

स्वरो का प्रयोग

१, अर्धमार्गधी मे 'ऋ' 'लृ' ऐ, औ, का प्रयोग नही होता।

२ सयुक्त व्यजन से पूर्व दीर्घ स्वर के स्थान मे ह्रस्व का प्रयोग होता है—जैसे—आम्र = अब इत्यादि।

३ 'ऋ' के स्थान मे 'अ' और कही कही 'इ' 'उ' और 'रि' भी होता है। जैसे—घृत = घय, कृपा = किवा, स्पष्ट = पुट्ठ, ऋद्धि = रिद्धि।

४ 'लृ' के स्थान मे 'इलि' होता है, जैसे—क्लृप्त = किलित्त।

५ सयुक्त व्यजन से पूर्व 'इ' और 'उ' के स्थान मे 'ए' और 'ओ' का प्रयोग प्राय होता है, जैसे—विल्व = बेल्व, पुष्करिणी = पोक्खरिणी।

६ 'ऐ' और 'औ' के स्थान मे 'ए' 'अइ' और 'ओ' 'अउ' होता है। जैसे - वैद्य = वेज्ज, वैशाख = वइसाह, यौवन = जोव्वण, पौर = पउर, विशेष—सौन्दर्यम् = सुदेर, दौवारिक = दुवारिओ, गौरव = गारव, गउरव, नौ = नावा इत्यादि।

व्यजनो का प्रयोग

१ 'म्ह 'ण्ह' और ल्ह के अतिरिक्त विजातीय सयुक्त व्यजन प्रयुक्त नही होते, जैसे—पक्व = पक्के।

२ स्वर रहित केवल व्यजन का प्रयोग नही होता, जैसे—राजन् = राय, तमस् = तम।

सयुक्त व्यजनो मे परिवर्तन

१ क्त—क्य—क्र—क्ल—क्व, त्क—र्क—ल्क के स्थान मे 'क्क' होता है। जैसे—मुक्त = मुक्क, शाक्य = सक्क, शक्र = सक्क, विक्लव = विक्कव, पक्व = पक्क, उत्कठा = उक्कठा, अर्क = अक्क, वल्कल = वक्कल।

२ ख—क्ष—ख्य—क्ष्य—त्क्ष—त्ख—ष्क—स्क—स्ख के स्थान मे 'क्ख' होता है। जैसे—दु ख = दुक्ख, मक्षिका = मक्खिया, मुख्य = मुक्ख, भक्ष्य = भक्ख, उत्क्षिप्त = उक्खित्त, उत्खात = उक्खाय, पुष्कर = पोक्खर, प्रस्कदन = पक्खदण, प्रस्खलित = पक्खलिय।

३ ग्न—ग्म—ग्य—ङ्ग—द्ग—र्ग—ल्ग के स्थान मे 'ग्ग' होता है। जैसे—सविग्न = सविग्ग, युग्म = जुग्ग, आरोग्य = आरोग्ग, समग्र = समग्ग, खड्ग = खग्ग, मुद्ग = मुग्ग, मार्ग = मग्ग, वल्ग = वग्ग।

४ घ्न—घ्र—द्घ—र्घ के स्थान मे 'ग्घ' होता है। जैसे—कृतघ्न = कयग्घ, शीघ्र = सिग्घ, उद्घाटन = उग्घाडण, दीर्घ = दिग्घ।

५ च्य, त्य – त्व, थ्य—र्च के स्थान मे 'च्च' होता है। जैसे—वाच्य = वच्च, अपत्य = अवच्च, कृत्वा = किच्चा, तथ्य = तच्च, वर्च = वच्च।

६ थ्य—क्ष—क्ष्म—छ्र—त्स—त्स्य—प्स—च्छ—श्च—स्त के स्थान मे 'च्छ' होता है। जैसे—लक्ष्य = लच्छ, दक्ष = दच्छ, लक्ष्मी = लच्छी, कृच्छ्र = किच्छ, वत्सल = वच्छल, मत्स्य = मच्छ, नेपथ्य = नेवच्छ, अप्सरा = अच्छरा, मूर्च्छा = मुच्छा, पश्चात् = पच्छा, विस्तीर्ण = विच्छिन्न।

७ ज्य—ज्र, ज्व—द्य—द्व—ब्ज—य्य—र्य—र्ज—र्ज्य के स्थान मे 'ज्ज' होता है, जैसे—विभाज्य = विभज्ज, वज्र = वज्ज, प्रज्वलित = पज्ज-लिय, अनवद्य = अणवज्ज, विद्वान् = विज्ज, अब्ज = अज्ज, शय्या = सिज्जा, आर्या = अज्जा, तर्जनी = तज्जणी, वर्ज्य = वज्ज।

८ ध्य—ध्व—ह्य, के स्थान मे 'ज्झ' होता है, जैसे—उपाध्याय= उवज्झाय, बुध्वा=बुज्झा ग्राह्य=गेज्झ ।

९ र्त्त—त्त—र्त के स्थान मे 'ट्ट' होता है। जैसे—वर्त्ती=वट्टी, पत्तन=पट्टण, नर्तक=नट्टग ।

१० ष्ट—ष्ठ—र्थ के स्थान मे 'ट्ठ' होता है। जैसे—सतुष्ट= सतुट्ठ, निष्ठुर=निट्ठुर, समर्थ=समट्ठ। र्त—र्द के स्थान मे 'ड्ड' होता है, जैसे—गर्ता=गड्डा, विच्छर्द=विच्छड्ड। ढ्य—द्ध—र्ध के स्थान मे 'ड्ढ' होता है, जैसे—धनाढ्य=धनड्ढ, वृद्धि=वुड्ढि, वर्धमान=वड्ढमाण ।

११ ज्ञ—ण्य—न्य—न्व—म्न—र्ण के स्थान पर 'ण्ण' होता है, जैसे—विज्ञान=विन्नाण, हिरण्य=हिरण्ण, धन्य=धण्ण, अन्वर्थ= अण्णत्थ, निम्न=निण्ण, सुवर्ण=सुवण्ण ।

१२ क्ष्ण—श्न, ष्ण—स्न—ह्न के स्थान मे 'ण्ह' होता है। जैसे—श्लक्ष्ण=सण्ह, प्रश्न=पण्ह, पृष्ठि=पण्हि, स्नान=ण्हाण, पूर्वाह्न= पुव्वण्ह, वह्नि=वण्हि ।

१३ क्त, त्न, त्म, त्र—त्व—प्त—र्त के स्थान मे 'त्त' होता है। जैसे—भुक्त=भुत्त, प्रयत्न=पयत्त, आत्मा=अत्ता, पत्र=पत्त, तत्त्व= तत्त, प्राप्त=पत्त, कर्त्ता=कत्ता ।

१४ क्थ—त्र—र्थ—स्त—स्थ के स्थान मे 'त्थ' होता है, जैसे— सिक्थ=सित्थ, तत्र=तत्थ, समर्थ=समत्थ, विस्तार=वित्थार, इन्द्र- प्रस्थ=इन्दपत्थ। द्र—द्व—ब्द—र्द के स्थान मे 'द्द' होता है। जैसे—समुद्र =समुद्द, प्रद्वेष=पद्देस, शब्द=सद्द, कर्दम=कद्दम। ग्ध—ध्व—ब्ध—र्ध के स्थान मे 'द्ध' होता है जैसे—दुग्ध=दुद्ध, अध्वन्=अद्ध, लब्धि=लद्धि, वर्धमान=वद्धमाण ।

१५ क्म—त्प—त्म—प्य—प्र—प्ल—र्प—ल्प के स्थान मे 'प्प' होता है, जैसे—रुक्मिणी=रुप्पिणी, उत्पल=उप्पल, परमात्मन्=परमप्प, क्षिप्र=खिप्प, विप्लव=विप्पव, सर्प=सप्प, जल्प=जप्प, कल्प=कप्प। त्फ—स्प—ष्फ—स्फ के स्थान मे 'प्फ' होता है, जैसे—उत्फुल्ल=उप्फुल्ल, पुष्प=पुप्फ, निष्फल=निप्फल, वृहस्पति=विहप्फइ, प्रस्फोटित=पप्फो- डिय। द्व—र्व—व्र के स्थान मे व्व होता है, जैसे—उद्वोवित=उव्वोहिय, निर्वल=निव्वल, अव्रह्म=अव्वभ ।

ग्भ—द्भ—भ्य—भ्र—र्भ—व्ह—इन के स्थान मे 'ब्भ' होता है, जैसे—ईषत्प्राग्भार=ईसिपब्भार, सद्भूत=सब्भूय, अभ्यास=अब्भास, शुभ्र=सुब्भ, अर्भक=अब्भग, विव्हल=विब्भल ।

१६ ग्म—न्म—म्य—र्म—ल्म—द—र्म्य के स्थान मे 'म्म' होता है। जैसे—युग्म=जुम्म, मन्मथ=मम्मह, साम्य=सम्म, धर्म=धम्म, गुल्म=गुम्म, पद्म=पोम्म, हर्म्य=हम्म।

क्ष्म—श्म—ष्म—ह्म के स्थान मे 'म्ह' होता है, जैसे—यक्ष्मन्=पम्ह, कुश्मान=कुम्हाण, ग्रीष्म=गिम्ह, विस्मय=विम्हय, ब्रह्मा=बम्हा, विशेष=विसेस, ब्राह्मण=बम्हण, बभण।

१७ र्य—र्ल—ल्य—ल्व के स्थान मे 'ल्ल' होता हे, जैसे—पर्यस्त=पल्लत्थ, निर्लज्ज=निल्लज्ज कल्याण=कल्लाण, पल्वल=पल्लल, 'ह्ल' का 'ल्ह'—आह्लाद=आल्हाय।

द्व—र्व—व्य—व्र के स्थान मे 'व्व' होता है, जैसे—उद्वेग=उव्वेग, उर्वी=उव्वी, काव्य=कव्व, प्रव्रज्या=पव्वज्जा।

१८ र्ष—श्म—श्य—श्र—श्व—ष्य—स्य—स्र—स्व के स्थान मे 'स्स' होता है, जैसे—वर्ष=वस्स, रश्मि=रस्सि, लेश्या=लेस्सा, विश्राम=विस्साम, ईश्वर=इस्सर, दूष्य=दूस्स, तस्य=तस्स, सहस्र=सहस्स, ओजस्विन्+ओयस्सि।

शिक्षा के लिए तीन अपात्र

तओ अवायणिज्जा

१ अविणीए

२ विगईपडिबद्धे

३ अविओसवितपाहुडे

—स्थानांग ३/४७६

तीन प्रकार के व्यक्ति वाचना देने के योग्य नही होते—

१ अविनीत—

२ विकृति-प्रतिबद्ध—जिन्हारस का लोलुप

३ अव्यवशमित प्राभृत—कलह या विग्रह को उपशान्त न करने वाला

('आगम मुक्ता' से सकलित)

स्वाध्याय : अर्थ और साधना

—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

स्वाध्याय से ज्ञान बढता है। मन की शुद्धि होती है। शुद्ध मन शीघ्र ही स्थिर हो जाता है। स्थिर मन मे आत्मा का निर्मल प्रतिबिम्ब झलकता है। साधक आत्म-दर्शन करने मे सक्षम हो जाता है। इस प्रकार स्वाध्याय क्रमश आत्मदर्शन का कारण बनता है।

स्वाध्याय मन को विशुद्ध बनाने का एक श्रेष्ठ प्रयास है। अपना अपने ही भीतर अध्ययन, आत्मचिन्तन, मनन ही स्वाध्याय है। सत्शास्त्रो का मर्यादापूर्वक पढना, विधिसहित श्रेष्ठ पुस्तको का अध्ययन करना स्वाध्याय है।

स्वाध्याय का चिन्तन हम निम्न शीर्षको मे प्रस्तुत कर रहे है—

स्वाध्याय तप एक अनुचिन्तन

स्वाध्याय दीपक है—भारतीय सस्कृति मे स्वाध्याय का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आगम, त्रिपिटक और वेद सभी ने एक स्वर से स्वाध्याय की यशोगाथा गाई है। स्वाध्याय अन्धकारपूर्ण जीवन-पथ का आलोकित करने के लिए जगमगाते दीपक के समान है। जिसके दिव्य आलोक मे हेय, ज्ञेय और उपादेय का परिज्ञान होता है।

स्वाध्याय, सजीवनी बूटी—शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! *स्वाध्याय से किस गुण की उपलब्धि होती है?* भगवान ने समाधान दिया कि स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।[1] स्वाध्याय से आत्मा मे निर्मल ज्ञान की ज्योति जगमगाती है। ज्ञान का दिव्य व भव्य प्रकाश जीवन को आलोकित कर देता है। जीवन मे जो कुछ भी दुख-दैन्य के काले कजरारे बादल उमड-घुमडकर मडराते हैं, उसका मूल अज्ञान है। साधना का लक्ष्य उस अज्ञान को नष्ट करना है। अज्ञान रूपी रोग को नष्ट करने के लिए स्वाध्याय सजीवनी बूटी है। स्वाध्याय अन्त प्रेक्षण है। बिना स्वाध्याय के ज्ञान-दीप प्रज्वलित नही हो सकता।

---

१ उत्तराध्ययन २६/१६

स्वाध्याय नन्दनवन—स्वाध्याय को शास्त्रकारो ने नन्दनवन की उपमा दी है। नन्दनवन मे चारो ओर एक-से-एक रमणीय, मन को आह्लादित करने वाले दृश्य है, जहाँ पहुँचकर मानव सभी प्रकार की आधि, व्याधि और उपाधि को विस्मृत कर देता है और आनन्द के झूले मे झूलने लगता है। उसी प्रकार स्वाध्यायरूपी नन्दनवन मे पहुँचकर मानव अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। स्वाध्याय करते समय कभी जीवन को आमूल-चल परिवर्तन करने वाली शिक्षाएँ मिलती है तो कभी स्वर्ग और नरक के दृश्यो का वर्णन प्राप्त होता है तो कभी महापुरुषो के जीवन की दिव्य व भव्य झाँकियाँ पढने को मिलती है। जब कभी भी आपका मन हताश व निराश हो, जीवन भार रूप प्रतीत होता हो, तब आप स्वाध्याय कीजिए, आपके जीवन मे नवीन आशा व उल्लास का सचार हो जायेगा। नवीन स्फूर्ति अँगडाइयाँ लेने लगेगी।

स्वाध्याय और योग—योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने कहा—स्वाध्याय से योग की प्राप्ति होती है और योग से स्वाध्याय की साधना होती है। जो साधक स्वाध्यायमूलक योग की सम्यक् साधना करता है, उसके समक्ष परमात्मा प्रकट हो जाता है अर्थात् वह स्वय परमात्मा बन जाता है।[1]

स्वाध्याय वाणी का तप है, जिससे हृदय का मैल नष्ट होकर वह निर्मल होता है। अन्तस् के ज्ञानदीप को प्रज्वलित करने के लिए स्वाध्याय आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। योगशिखोपनिषद्कार ने कहा है—जैसे लकडी मे रही हुई अग्नि बिना घर्षण के प्रकट नही होती, उसी प्रकार ज्ञान-दीपक जो हमारे भीतर ही विद्यमान है, स्वाध्याय के अभ्यास के बिना प्रदीप्त नही हो सकता।

ध्यान और स्वाध्याय—स्वाध्याय और ध्यान का भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वाध्याय मे अपने आपका चिन्तन प्रमुख होता है तो ध्यान मे भी ध्याता ध्येय बन जाता है। जब ध्याता किसी अन्य वस्तु का अवलम्बन न लेकर स्वय अपने को ही अपना विषय बनाता है तो वह उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है। आचार्य पतजलि ने इसे निर्बीज समाधि कहा है। इस दृष्टि से ध्यान और स्वाध्याय मे कोई अन्तर नही है। ध्यान से चित्त एकाग्र होता है तो स्वाध्याय से भी चित्त मे एकाग्रता आती है।

बौद्ध वाङ्मय मे स्वाध्याय के सम्बन्ध मे विस्तार से विवेचन करते

---

१ योगदर्शन १/२८, व्यासभाष्य

हुए लिखा है—जो प्रतिदिन स्वाध्याय करता है उसके ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। उसका ज्ञान शतशाखी होकर निरन्तर बढता रहता है।

स्वाध्याय चिन्तामणि—स्वाध्यायरूपी चिन्तामणि रत्न जिसे मिल जाता है, उसके सामने कुबेर का रत्न-कोष भी कुछ मूल्य नही रखता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे स्वाध्याय को 'सर्वदुखविमोचक' कहा है।[1] स्वाध्याय सब भावो का प्रकाश करने वाला है।[2] यही कारण है कि जैन सस्कृति मे प्रत्येक श्रमण और श्रमणी के दैनिक जीवन मे स्वाध्याय को आवश्यक स्थान दिया गया है। दिन और रात्रि के आठ प्रहर होते हैं। प्रथम और चतुर्थ प्रहर मे स्वाध्याय का विधान किया गया है।[3] इस प्रकार आठ प्रहर मे चार प्रहर का समय स्वाध्याय मे व्यतीत करना चाहिए।[4] जो साधक इस विधान को भग करता है[5] तो उस भूल का वह प्रात व सन्ध्या के समय प्रतिक्रमण करता है। प्रथम प्रहर मे सूत्र का स्वाध्याय किया जाता है, और द्वितीय प्रहर मे उस सूत्र के अर्थो पर चिन्तन मनन किया जाता है, इसलिए प्रथम प्रहर को सूत्र-पोरसी और द्वितीय प्रहर को अर्थ-पोरसी भी कहा जाता है।[6]

स्वाध्याय और समाधि—श्रमण भगवान महावीर ने चार प्रकार की समाधियो का वर्णन किया है—विनय समाधि, श्रुत समाधि, तप समाधि और आचार समाधि।[7] इन चार समाधियो मे श्रुत समाधि का स्थान द्वितीय है। विनय समाधि की नीव पर ही श्रुत समाधि का भव्य प्रासाद खडा होता है। श्रुत समाधि होने पर ही तप और आचार समाधि हो सकती है। बिना स्वाध्याय के श्रुत समाधि कदापि नही हो सकती।

शिष्य ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! आपने कहा कि शास्त्र-स्वाध्याय से समाधि उपलब्ध होती है तो कृपया बताइये कि समाधि मिलने के क्या हेतु हैं?

भगवान् ने समाधान करते हुए फरमाया—स्वाध्याय से श्रुतज्ञान का लाभ होता है, मन की चचलता नष्ट होती, आत्मा आत्मभाव मे स्थिर होता है।

स्थानाग[8] मे प्रकारान्तर से प्रस्तुत बात को इस प्रकार कहा है—

---

१ उत्तराध्ययन २६/१०
२ वही० २६/३७
३ उत्तराध्ययन, २६/१२
४ आवश्यकचूर्णि, जिनदास महत्तर।
५ आवश्यकसूत्र
६ वही०
७ दशवैकालिक ९/४/२
८ स्थानाग, ५

(१) स्वाध्याय से श्रुत का सग्रह होता है।

(२) शिष्य श्रुत ज्ञान से उपकृत होता है, वह प्रेम से श्रुत की सेवा करता है।

(३) स्वाध्याय से ज्ञान के प्रतिबधक कर्म निर्जरित होते है।

(४) अभ्यस्त श्रुत विशेष रूप से स्थिर होता हे।

(५) निरन्तर स्वाध्याय किया जाये तो सूत्र विच्छिन्न भी नही होते।

आगम साहित्य का अध्ययन, चिन्तन मनन करने से अनेकानेक सद्गुणो का विकास होता है। ज्ञान की वृद्धि, सम्यग्दर्शन की शुद्धि, चारित्र की सवृद्धि होती है और मिथ्यात्व नष्ट होकर सत्य तथ्य को प्राप्त करने की तीव्र जिज्ञासा वृत्ति जागृत होती है।[1]

आचार्य अकलक ने तत्त्वार्थराजवार्त्तिक मे[2] प्रस्तुत तथ्य को इन शब्दो मे प्रस्तुत किया है—

(१) स्वाध्याय से बुद्धि की निर्मलता होती है।

(२) प्रशस्त अध्यवसाय की प्राप्ति होती है।

(३) शासन की रक्षा होती है।

(४) सशय की निवृत्ति होती है।

(५) परवादियो की शकाओ के निरसन की शक्ति प्राप्त होती है।

(६) तप-त्याग की वृद्धि होती है।

(७) अतिचारो की शुद्धि होती है।

स्वाध्याय आत्मा की खुराक—स्वाध्याय आत्मा की खुराक है जो प्रतिदिन आवश्यक है। वैदिक ऋषि ने तो स्वाध्याय का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए यहाँ तक कहा है कि यथायोग्य सदाचार पालन, स्वाध्याय एव प्रवचन कर्म किये जाने योग्य है, सत्य, स्वाध्याय एव प्रवचन कर्म पालन करने योग्य है, इन्द्रिय-दमन, स्वाध्याय एव प्रवचन कर्म किये जाने योग्य है, बाह्येन्द्रिय दमन, स्वाध्याय एव प्रवचन किये जाने योग्य है, लौकिक व्यवहार, स्वाध्याय एव प्रवचन किये जाने योग्य है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य के साथ स्वाध्याय और प्रवचन शब्द को जोडकर इस ओर सकेत किया गया है कि जीवन मे इसका अत्यधिक गहरा महत्त्व है।[3]

---

१ स्थानाग, ५

२ तत्वार्थराजवार्त्तिक

३ तैत्तिरीयोपनिषद

ज्ञानरूपी दीप को निरन्तर प्रज्वलित रखने के लिए स्वाध्याय रूपी स्नेह की नितान्त आवश्यकता है।

स्वाध्यायान्मा प्रमद —प्राचीन युग मे बारह वर्ष तक शिष्य गुरुकुल मे रहकर, अध्ययन पूर्ण कर पुन घर लौटता तब आचार्य आशीर्वाद के रूप मे तीन शिक्षाएँ देता—

(१) **सत्य वद।** (२) **धर्म चर।** (३) **स्वाध्यान्मा प्रमद।**

आचार्य प्रथम सत्य बोलने के लिए और धर्म के आचरण के लिए कहता और फिर स्वाध्याय के लिए। सत्य व धर्म के मर्म को समझने के लिए स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए आचार्य ने उस पर बल देते हुए कहा—वत्स! स्वाध्याय मे प्रमाद न करना। यहाँ रहकर तुमने जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त किया है उसे कभी भी क्षीण न होने देना। स्वाध्याय से अभिनव ज्ञान की तो वृद्धि होगी ही, साथ ही पहले पढे हुए ज्ञान मे भी ताजगी आयेगी। कितनी सुन्दर प्रेरणा है!

स्वाध्याय परम तप—भगवान महावीर ने द्वादश प्रकार के तपो मे स्वाध्याय को आभ्यन्तर तप मे स्थान दिया है। एक जैनाचार्य ने तो स्वाध्याय को परम तप कहा है। अनशन आदि तप भी स्वाध्याय के लिए ही है।

स्वाध्याय की परिभाषा

अब हमे चिन्तन करना है कि स्वाध्याय क्या है? आचार्यों ने स्वाध्याय शब्द के अनेक अर्थ किये है—

अध्ययन अध्याय शोभनो अध्याय स्वाध्याय।[1]—सु—अध्याय अर्थात् श्रेष्ठ अध्ययन का नाम स्वाध्याय है। तात्पर्य यह है कि आत्म-कल्याणकारी पठन-पाठन रूप श्रेष्ठ अध्ययन का नाम ही स्वाध्याय है।

आचार्य अभयदेव ने 'सु' 'आङ्' और 'अध्याय'—'सु' का अर्थ है 'सुष्ठु'—भलीभाँति, 'आङ्'+मर्यादा के साथ तथा अध्याय, अध्ययन करने को स्वाध्याय कहा[2] है।

वैदिक विद्वान ने स्वाध्याय का अर्थ किया है कि (स्वयमध्ययनम्) किसी अन्य की सहायता के विना स्वय ही अध्ययन करना, अध्ययन किये हुए का मनन और निदिध्यासन करना। इसका दूसरा अर्थ किया कि

---

१ आवश्यक सूत्र, ४ अ

२ स्थानाग २, २३०

(स्वस्यात्मनोऽध्ययनम्) अपने आप का अध्ययन करना, साथ ही यह चिन्तन करना कि स्वय का जीवन उन्नत हो रहा है या नही ।

स्वाध्याय शब्द का दूसरी प्रकार से भी पद विभाग किया गया है, वह है—**स्वेन स्वस्य अध्ययनम् —स्वाध्याय** —इसका अर्थ है—स्वय द्वारा स्वय का अध्ययन करना ।

स्वाध्याय के प्रकार

भगवान महावीर ने स्वाध्याय के पाँच प्रकार बताये है—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा ।

वाचना—सद्गुरुवर्य के मुँह से सूत्र-पाठ लेना और जैसा उसका उच्चारण करना चाहिए उसी प्रकार उच्चारण करना वाचना है । वाचना मे सूत्र के शब्दो पर पूर्ण ध्यान दिया जाता है । हीनाक्षर, अत्यक्षर, पद-हीन, घोष-हीन आदि दोषो से पूर्ण रूप से बचने का प्रयास होता है ।

पृच्छना—स्वाध्याय का यह दूसरा भेद है । सूत्र और उसके अर्थ पर भली-भाँति खूब तर्क-वितर्क, चिन्तन-मनन करना चाहिए और जहाँ पर शका उद्बुद्ध हो उसका गुरुदेव से पूछकर समाधान करना चाहिए ।

परिवर्तना—यह स्वाध्याय का तीसरा भेद है । एक ही सूत्र को पुन पुन॰ गिनना परिवर्तना है । इससे पढा हुआ ज्ञान विस्मृत नही होता है ।

अनुप्रेक्षा—जो सूत्र वाचना ग्रहण की है, उस पर तात्त्विक दृष्टि से गम्भीर चिन्तन करना । अनुप्रेक्षा से ज्ञान मे चमक-दमक पैदा होती है । यह स्वाध्याय का महत्वपूर्ण भेद है ।

धर्मकथा—सूत्र-वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, और अनुप्रेक्षा से जब तत्त्व का रहस्य हृदयगम हो जाये तब उस पर प्रवचन करना धर्मकथा है । चिन्तन-मनन के पश्चात ही विचारामृत को जन-जन के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए । धर्मकथा की यह प्रक्रिया मधु-मक्खी की प्रक्रिया है । मधुमक्खी विविध रगो के सुवासित फूलो का रस लेती है और अपनी प्रक्रिया से इस प्रकार का सतुलन और सामजस्य स्थापित करती है कि उन रसो से जो मधु बनता है वह विविध प्रकार का नही होता, उसका रग भी एक होता है जो लाभकारी और मधुर होता है । इसी प्रकार धर्म-कथा भी स्व-पर-कल्याणकारी होती है ।

भगवान् महावीर ने स्वाध्याय का जो यह क्रम प्रस्तुत किया वह बहुत ही सुन्दर और वैज्ञानिक है । इस क्रम मे शब्द और अर्थ दोनो की पूर्ण रूप से रक्षा की जाती है ।

स्वाध्याय के नियम

स्वाध्याय के सम्बन्ध मे आधुनिक चितको ने कुछ नियम प्रस्तुत किये हैं, उन नियमो की ओर लक्ष्य दिया जाय तो स्वाध्याय मे विशेष आनन्द प्राप्त हो सकता है, वे नियम इस प्रकार है—

(१) **एकाग्रता**—स्वाध्याय मे एकाग्रता होना अतीव आवश्यक है। जब तक मानसिक चचलता रहेगी, तब तक स्वाध्याय का आनन्द नही आ सकता और न सूत्र का रहस्य ही हृदयगम हो सकता है।

(२) **नैरन्तर्य**—स्वाध्याय मे विक्षेप नही होना चाहिए। प्रतिदिन नियमानुसार स्वाध्याय करना चाहिए।

(३) **विषयोपरति**—स्वाध्याय के हेतु ग्रथो का चयन करते समय सदा यह लक्ष्य रखना चाहिए कि हम विषय-वासना से ऊपर उठे, राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दुर्गुणो से बचे और इसके लिए ऐसे ही ग्रथो का अध्ययन करना चाहिए जिनके पढने से विषय-विकार और कषायो की ओर चित्तवृत्ति न जाय।

(४) **प्रकाश की उत्कठा**—स्वाध्याय करते समय साधक को यह दृढ आत्म-विश्वास होना चाहिए कि मेरी आत्मा मे अपूर्व प्रकाश फैल रहा है। मेरा शुभ सकल्प दृढ हो रहा है।

(५) **स्वाध्याय का स्थान**—स्वाध्याय के लिए स्थान की अनुकूलता भी आवश्यक है। स्थान एकान्त, कोलाहलरहित व स्वच्छ होना चाहिए।

स्वाध्याय और ग्रथ—स्वाध्याय किन ग्रथो का करना चाहिए, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। आजकल स्वाध्याय के नाम पर आधुनिक काम-प्रधान गदे उपन्यास, कहानियाँ व नाटको को पढने की परम्परा निरन्तर बढ रही है और इस प्रकार के साहित्य का अत्यधिक प्रचार हो रहा है जो सास्कृतिक व नैतिक दृष्टि से अत्यधिक घातक है। इस प्रकार का विकारवर्धक साहित्य पढना स्वाध्याय नही है। यह तो स्वाध्याय के नाम पर आत्म-वचना करना है। अत स्वाध्याय के लिए वे ही ग्रन्थ उपयोगी हैं जिनके पठन-पाठन से अहिंसा, सयम व तप की भावना उद्बुद्ध होती हो।

स्वाध्याय योग्य ग्रन्थो के प्रकार

आगम साहित्य को अग, उपाग, मूल, छेद आदि के रूप मे विभक्त किया गया है और कालिक व उत्कालिक रूप मे भी। कालिक श्रुत वह है जो प्रथम व अन्तिम प्रहर मे पढे जाते है, बीच के प्रहरो मे नही।

उत्कालिक वे है जो चारो प्रहरो मे पढे जा सकते है। जिस आगम का जो काल नही है, उस काल मे उस शास्त्र का स्वाध्याय करना ज्ञानातिचार है, और जो काल स्वाध्याय के लिए नियत किया है उस समय स्वाध्याय न करना भी अतिचार है। क्योकि स्वाध्याय का समय होते हुए भी प्रमाद-वश जो साधक स्वाध्याय नही करता है वह ज्ञान का अपमान करता है और ज्ञान का द्वार बन्द करता है।

अस्वाध्याय के प्रकार

हम पूर्व बता चुके है कि स्वाध्याय करने वाले साधक को सदा विवेक रखना चाहिए। जो स्थान स्वाध्याय के अयोग्य हो वहाँ पर स्वाध्याय नही करना चाहिए। अस्वाध्याय के कारण विद्यमान होने पर भी जो स्वाध्याय करता है तो उसे ज्ञानातिचार लगता है और जो स्वाध्याय का अनुकूल स्थान होने पर भी स्वाध्याय नही करता, उसे भी ज्ञानातिचार लगता है।

अस्वाध्याय के मूल दो भेद है—आत्म-समुत्थ और पर-समुत्थ। अपने व्रण से होने वाले रुधिरादि आत्म-समुत्थ कहलाते है और दूसरो से होने वाले पर-समुत्थ कहलाते है। आवश्यकनिर्युक्ति, चूर्णि व आवश्यक हरिभद्रीया वृत्ति मे इस विषय पर बहुत ही विस्तार से चर्चा की गई है। स्थानाग मे बत्तीस अस्वाध्यायो का वर्णन है। वह इस प्रकार है—दस आकाश सम्बन्धी, दश औदारिक सम्बन्धी, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदाओ के पूर्व की पूर्णिमाएँ और चार सध्याएँ।

दश आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय

(१) उल्कापात—आकाश से रेखा वाले तेज पुज का गिरना, या पीछे से रेखा एव प्रकाश वाले तारे का टूटना, उल्कापात है। उल्कापात होने पर एक प्रहर तक सूत्र की अस्वाध्याय रहती है।

(२) दिग्दाह—किसी एक दिशा-विशेष मे मानो बहुत बडा नगर जल रहा हो, इस तरह ऊपर की ओर प्रकाश दृष्टिगोचर होना और नीचे अन्धकार प्रतीत होना, दिग्दाह है। दिग्दाह होने पर एक प्रहर तक अस्वाध्याय रहती है।

(३) गर्जित—बादल गरजने पर दो प्रहर तक शास्त्र की अस्वाध्याय रहती है।

(४) विद्युत—बिजली चमकने पर एक प्रहर तक शास्त्र की अस्वाध्याय होती है।

आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र तक अर्थात् वर्षा ऋतु मे गर्जित और विद्युत की अस्वाध्याय नही होती, चूंकि वर्षाकाल मे ये सामान्य रूप से होते ही रहते है।

(५) निर्घात—बिना बादल वाले आकाश मे व्यन्तर आदि द्वारा की गई गर्जना की प्रचण्ड ध्वनि को निर्घात कहते हैं। निर्घात होने पर एक अहोरात्रि तक अस्वाध्याय काल होता है।

(६) यूपक—शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को सध्या की प्रभा और चन्द्र की प्रभा का मिल जाना, यूपक कहलाता है। इन दिनो मे चन्द्रप्रभा से आवृत होने के कारण सन्ध्या की समाप्ति का ज्ञान नही होता। एतदर्थ इन तीनो दिनो मे रात्रि के प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय करने का निषेध है।

(७) धूमिका—कातिक मास से लेकर माघ मास का समय मेघो का गर्भवास कहा जाता है। इस समय जो धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धूवर पडती है, वह धूमिका कहलाती है। वह धूमिका कभी-कभी अन्य मासो मे भी गिरती है। धूमिका मे जल होता है, जो भिगो देता है अत वह जब तक गिरती रहती है तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(८) महिका—शीतकाल मे जो सफेद वर्ण की सूक्ष्म जल-रूप धूवर गिरती है वह महिका कहलाती है। वह जब तक गिरती रहे तब तक अस्वाध्याय काल माना गया है।

(९) यक्षादीप्त—कभी-कभी किसी दिशा मे विद्युत चमकने जैसा कुछ-कुछ समय के पश्चात् प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। जब तक वह दिखलाई देता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(१०) रज उद्घात—पवन के कारण आकाश मे जो चारो ओर धूल छा जाती है, वह रज उद्घात कहलाती है, जहाँ तक रज उद्घात रहे वहाँ तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

दश औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय

(११—१३) अस्थि, मास और रक्त—पचेन्द्रिय तिर्यच के अस्थि, मास और रक्त यदि साठ हाथ के अन्दर हो तो सम्भवकाल से तीन प्रहर तक स्वाध्याय करने का निषेध है। यदि साठ हाथ के अन्दर बिल्ली आदि चूहे आदि को मार दे तो एक दिन-रात की अस्वाध्याय रहती है।

इसी तरह मानव सम्बन्धी अस्थि, मास और रक्त का अस्वाध्याय भी जानना चाहिए। अन्तर इतना ही है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक एव एक दिन-रात का होता है। महिलाओ के मासिक धर्म का अस्वा-

ध्याय तीन दिन का और बालक एव बालिका के जन्म का क्रमश सात और आठ दिन का माना गया है।

(१४) **अशुचि**—मल और मूत्र यदि स्वाध्याय स्थान के सन्निकट हो और दिखलाई देते हो अथवा उसकी दुर्गन्ध आती हो तो वहाँ पर स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(१५) **श्मशान**—श्मशान के चारो ओर सौ-सौ हाथ स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(१६) **चन्द्रग्रहण**—चन्द्रग्रहण होने पर कम-से-कम आठ और अधिक-से-अधिक बारह प्रहर तक स्वाध्याय नही करना चाहिए। यदि उदित हुआ चन्द्रमा ग्रसित हुआ हो तो चार प्रहर उस रात के एव चार प्रहर आगामी दिवस के इस तरह आठ प्रहर तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

यदि चन्द्रमा प्रात काल के समय ग्रहण सहित अस्त हुआ हो तो चार प्रहर दिन के एव चार प्रहर रात्रि के और चार प्रहर दूसरे दिन के, इस प्रकार बारह प्रहर तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

यदि ग्रहण पूर्ण हुआ है तो भी बारह प्रहर तक स्वाध्याय नही करनी चाहिए। यदि ग्रहण अपूर्ण है तो आठ प्रहर तक अस्वाध्याय काल रहता है।

(१७) **सूर्यग्रहण**—सूर्यग्रहण होने पर कम से कम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर तक स्वाध्याय नही करना चाहिए। यदि पूरा ग्रहण न हो तो बारह प्रहर तक और पूरा ग्रहण हो तो सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय काल रहता है।

सूर्य अस्त होने के समय यदि वह ग्रसित हो तो चार प्रहर रात के और बारह प्रहर आगामी अहोरात्रि के, इस प्रकार सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय होती है। यदि उदित होता हुआ सूर्य ग्रसित हो तो उस दिन-रात के आठ प्रहर और दूसरे दिन-रात के आठ प्रहर, इस प्रकार सोलह प्रहर तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(१८) **पतन**—राजा के निधन होने पर जब तक दूसरा राजा सिंहासनारूढ न हो तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए, नये राजा के सिंहासनारूढ हो जाने पर भी एक दिन-रात स्वाध्याय नही करनी चाहिए।

राजा के रहने पर भी यदि राज्य मे उपद्रव हो, जन-जीवन अशान्त हो, तो जब तक वह शान्त न हो जाये तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए। शान्ति और सुव्यवस्था हो जाने पर भी एक अहोरात्रि तक अस्वाध्याय काल माना गया है।

आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र तक अर्थात् वर्षा ऋतु मे गर्जित और विद्युत की अस्वाध्याय नही होती, चूंकि वर्षाकाल मे ये सामान्य रूप से होते ही रहते हैं।

(५) निर्घात—बिना बादल वाले आकाश मे व्यन्तर आदि द्वारा की गई गर्जना की प्रचण्ड ध्वनि को निर्घात कहते हैं। निर्घात होने पर एक अहोरात्रि तक अस्वाध्याय काल होता है।

(६) यूपक—शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को सध्या की प्रभा और चन्द्र की प्रभा का मिल जाना, यूपक कहलाता है। इन दिनो मे चन्द्रप्रभा से आवृत होने के कारण सन्ध्या की समाप्ति का ज्ञान नही होता। एतदर्थ इन तीनो दिनो मे रात्रि के प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय करने का निषेध है।

(७) धूमिका—कातिक मास से लेकर माघ मास का समय मेघो का गर्भवास कहा जाता है। इस समय जो धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धूवर पडती है, वह धूमिका कहलाती है। वह धूमिका कभी-कभी अन्य मासो मे भी गिरती है। धूमिका मे जल होता है, जो भिगो देता है अत वह जब तक गिरती रहती है तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(८) महिका—शीतकाल मे जो सफेद वर्ण की सूक्ष्म जल-रूप धूवर गिरती है वह महिका कहलाती है। वह जब तक गिरती रहे तब तक अस्वाध्याय काल माना गया है।

(९) यक्षादीप्त—कभी-कभी किसी दिशा मे विद्युत चमकने जैसा कुछ-कुछ समय के पश्चात् प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। जब तक वह दिखलाई देता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(१०) रज उद्घात—पवन के कारण आकाश मे जो चारो ओर धूल छा जाती है, वह रज उद्घात कहलाती है, जहाँ तक रज उद्घात रहे वहाँ तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

दश औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय

(११—१३) अस्थि, मास और रक्त—पचेन्द्रिय तिर्यच के अस्थि, मास और रक्त यदि साठ हाथ के अन्दर हो तो सम्भवकाल से तीन प्रहर तक स्वाध्याय करने का निषेध है। यदि साठ हाथ के अन्दर बिल्ली आदि चूहे आदि को मार दे तो एक दिन-रात की अस्वाध्याय रहती है।

इसी तरह मानव सम्बन्धी अस्थि मास और रक्त का अस्वाध्याय भी जानना चाहिए। अन्तर इतना ही है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक एव एक दिन-रात का होता है। महिलाओ के मासिक धर्म का अस्वा-

ध्याय तीन दिन का और बालक एव बालिका के जन्म का क्रमश सात और आठ दिन का माना गया है।

(१४) **अशुचि**—मल और मूत्र यदि स्वाध्याय स्थान के सन्निकट हो और दिखलाई देते हो अथवा उसकी दुर्गन्ध आती हो तो वहां पर स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(१५) **श्मशान**—श्मशान के चारो ओर सौ-सौ हाथ स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(१६) **चन्द्रग्रहण**—चन्द्रग्रहण होने पर कम-से-कम आठ और अधिक-से-अधिक बारह प्रहर तक स्वाध्याय नही करना चाहिए। यदि उदित हुआ चन्द्रमा ग्रसित हुआ हो तो चार प्रहर उस रात के एव चार प्रहर आगामी दिवस के इस तरह आठ प्रहर तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

यदि चन्द्रमा प्रात काल के समय ग्रहण सहित अस्त हुआ हो तो चार प्रहर दिन के एव चार प्रहर रात्रि के और चार प्रहर दूसरे दिन के, इस प्रकार बारह प्रहर तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

यदि ग्रहण पूर्ण हुआ है तो भी बारह प्रहर तक स्वाध्याय नही करनी चाहिए। यदि ग्रहण अपूर्ण है तो आठ प्रहर तक अस्वाध्याय काल रहता है।

(१७) **सूर्यग्रहण**—सूर्यग्रहण होने पर कम से कम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर तक स्वाध्याय नही करना चाहिए। यदि पूरा ग्रहण न हो तो बारह प्रहर तक और पूरा ग्रहण हो तो सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय काल रहता है।

सूर्य अस्त होने के समय यदि वह ग्रसित हो तो चार प्रहर रात के और बारह प्रहर आगामी अहोरात्रि के, इस प्रकार सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय होती है। यदि उदित होता हुआ सूर्य ग्रसित हो तो उस दिन-रात के आठ प्रहर और दूसरे दिन-रात के आठ प्रहर, इस प्रकार सोलह प्रहर तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(१८) **पतन**—राजा के निधन होने पर जब तक दूसरा राजा सिहासनारूढ न हो तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए, नये राजा के सिहासनारूढ हो जाने पर भी एक दिन-रात स्वाध्याय नही करनी चाहिए।

राजा के रहने पर भी यदि राज्य मे उपद्रव हो, जन-जीवन अशान्त हो, तो जब तक वह शान्त न हो जाये तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए। शान्ति और सुव्यवस्था हो जाने पर भी एक अहोरात्रि तक अस्वाध्याय काल माना गया है।

राज-मन्त्री, गॉव का प्रमुख, शय्यातर एव उपाश्रय के सन्निकट सात घरो के अन्दर किसी की मृत्यु हो जाये तो एक अहोरात्र तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(१६) **राजव्युद्ग्रह**—राजाओ मे परस्पर सग्राम हो जाये तो, जब तक शान्ति न हो और शान्ति होने पर भी एक अहोरात्र तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(२०) **औदारिक शरीर**—उपाश्रय मे पचेन्द्रिय तिर्यच का या मानव का निर्जीव शरीर पडा हो तो उस शरीर से सौ हाथ दूरी तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

यहॉ यह स्मरण रखना चाहिए कि चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण को औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय मे इसलिए गिना है कि इनके विमान पृथ्वी-कायिक जीवो द्वारा निर्मित है।

(२१-२८) **चार महापूर्णिमा और चार महाप्रतिपदाएँ**—आषाढ पूर्णिमा, आश्विन पूर्णिमा, कार्तिक पूर्णिमा और चैत्र पूर्णिमा—इन चार दिनो मे महान महोत्सव होते थे। इन पूर्णिमाओ के पश्चात् की प्रतिपदाएँ महाप्रतिपदाएँ कहलाती थी। एतदर्थ इन चार महापूर्णिमाओ को और चारो महाप्रतिपदाओ को स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(२९-३२) प्रात काल, मध्यान्ह, सायकाल और अर्द्धरात्रि इन चारो को सन्ध्याकाल कहते है। इन सन्ध्याओ मे भी दो-दो घडी तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अन्य ग्रन्थो मे अन्य कुछ वाते और भी दी गई है।

आगम ज्ञान-विज्ञान का अक्षय कोष—श्रमण भगवान महावीर विश्व की एक अनुपम ज्योति थे, जिनका जन्म उस समय के प्रसिद्ध राज-कुल मे हुआ, पर उनका मन सासारिकता मे नही लगा और उस विराट् वैभव को छोडकर वे अनगार वने, उग्र तप, जप व सयम की साधना कर केवली बने। श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविकारूप तीर्थ की सस्थापना कर वे तीर्थकर बने। उनके पश्चात् उन्होने जो प्रवचन किये वे आगम या सूत्र के नाम से आज विश्रुत है। आगम ज्ञान-विज्ञान का अक्षय-कोष है। उनमे केवल अध्यात्म और वैराग्य के ही उपदेश नही है किन्तु नीति, व्यवहार और जीवन के हर पहलू को छूने वाले सुविचार रूपी अनमोल रत्न भरे है। उन आगमो के अथाह सागर मे डुवकी लगाने वाला पुरुष ही उन रत्नो को प्राप्त कर सकता है। उस व्यक्ति की चित्तवृत्ति शान्त और एकाग्र हो जाती है, उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है, इसलिए स्वाध्याय को परम तप माना गया है।

अनुप्रेक्षायोग की आराधना

—स्व० आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज

स्वाध्याय के पाच अगो मे अणुप्पेहा—अनुप्रेक्षा चतुर्थ अग है। अनुप्रेक्षा का स्वरूप और क्षेत्र कितना व्यापक है, इससे हमारे पाठक परिचित ही होगे। ध्यान योग एव भावना योग की सम्पूर्ण आधारभूमि अनुप्रेक्षा ही है। अनुप्रेक्षा-चिन्तन स्वय एक विशाल ग्रन्थ की सामग्री है। इस पर बहुत ही सारपूर्ण और आगमानुमोदित चिन्तन प्रस्तुत किया था—जैन आगमो के गहन मर्मज्ञ विश्रुत विद्वान स्व० आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने। जैनागमो मे अष्टाग योग आपकी प्रसिद्ध महत्वपूर्ण पुस्तक है। जिसका नवीन शैली मे सपादन किया है, आपके प्रशिष्य वाणीभूषण श्री अमरमुनि जी महाराज ने 'जैन योग सिद्धान्त और साधना' नाम से। उक्त पुस्तक जैन योग की एक बहुचर्चित पुस्तक है। उसी पुस्तक का एक उपयोगी अश यहां प्रस्तुत है।

—सम्पादक

अनुप्रेक्षा का आशय

एक शब्द है प्रेक्षा, उसका आशय है देखना, गहराई से देखना, तटस्थतापूर्वक देखना, सिर्फ देखना, उसमे कोई चिन्तन-मनन न हो, मात्र प्रेक्षा ही हो, और दूसरा शब्द है अनुप्रेक्षा, 'अनु' उपसर्ग लगते ही प्रेक्षा शब्द का आशय बदल गया, अभिप्राय परिवर्तित हो गया, उसमे चिन्तन-मनन का समावेश हो गया, इस प्रकार अनुप्रेक्षा शब्द का आशय है—बार-बार देखना, गहराई से देखना, चिन्तन-मननपूर्वक देखना, मनन करना, चिन्तन करना और मन, चित्त तथा चैतन्य को उस विषय मे रमाना, उन सस्कारो को दृढीभूत करना।[1]

---

1 (क) अणुप्पेहा णाम जो मणसा परियट्टेइ णो वायाए।—दशवै० चूर्णि, पृष्ठ २६
—पठित व श्रुत अर्थो का मन से (वाणी से नहीं) चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

(क) शरीरादीना स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। —सर्वार्थसिद्धि ६/२/४०६
—शरीर आदि के स्वभाव का पुन पुन चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

अनुप्रेक्षा, सचाई को देखना है, सचाई पर चिन्तन करना है। अपनी जो पूर्वधारणाएँ है, उन्हे निकालकर पूर्वसस्कारो को हटाकर जो सत्य है, यथार्थ है, वास्तविकता है उसका चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

अनुप्रेक्षा का अभिप्रेत है—**सत्य प्रति प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा**। सत्य के प्रति एकनिष्ठ बुद्धि से देखना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा का सिद्धान्त, वास्तविकता मे, सत्य-दर्शन का सिद्धान्त है, सत्य के प्रति एकनिष्ठ समर्पण का सिद्धान्त है, अपनी सभी पूर्वधारणाओ और सस्कारो को नकार कर सत्य को/सचाई को ग्रहण करने का, उसे धारण करने का सिद्धान्त है।

अनुप्रेक्षायोग की साधना करने वाला साधक अपने पूर्वसस्कारो और धारणाओ तथा राग-द्वेषमय मान्यताओ/मूढताओ से परे हटकर, सत्य के प्रति समर्पित हो जाता है और सत्य को ही अपने मन मे, अणु-अणु मे रमाता है।

इस सत्य को अपने मन-मस्तिष्क मे रमाने के लिए वह बारह अनुप्रेक्षाओ का बार-बार चिन्तवन करता है। बारह अनुप्रेक्षाओ के नाम ये हैं—

(१) अनित्य अनुप्रेक्षा	(७) आस्रव अनुप्रेक्षा
(२) अशरण अनुप्रेक्षा	(८) सवर अनुप्रेक्षा
(३) ससार अनुप्रेक्षा	(९) निर्जरा अनुप्रेक्षा
(४) एकत्व अनुप्रेक्षा	(१०) लोक अनुप्रेक्षा
(५) अन्यत्व अनुप्रेक्षा	(११) बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा
(६) अशुचि अनुप्रेक्षा	(१२) धर्म अनुप्रेक्षा

इन बारह अनुप्रेक्षाओ का बार-बार चिन्तन-मनन करके साधक इन सस्कारो से अपनी आत्मा को भावित करता है, अत इन्हे भावना भी कहा जाता है। अनुप्रेक्षा और भावना दोनो शब्द एकार्थवाची हैं।

प्राचीन आचार्यो के कथनानुसार भावना व अनुप्रेक्षा मे वाणी-प्रयोग नही होता, सिफ मन ही उस विषय मे गतिशील रहता है अत मौनपूर्वक गभीर चिन्तन-मनन को अनुप्रेक्षा या भावना कहा गया है।

(ग) परिज्ञातार्थस्य एकाग्रेण मनसा यत्पुन पुन अभ्यसन अनुशील सानुप्रेक्षा।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षाटीका ४६६

—जाने हुए विषय का एकाग्रचित्त से बार-बार चिन्तन—अनुशीलन करना अनुप्रेक्षा है।

इन अनुप्रेक्षाओ की साधना ही योग की दृष्टि मे अनुप्रेक्षायोग कहलाती है।

ध्यान की अपेक्षा से भावनाओं का वर्गीकरण

इनमे से अनित्य, अशरण, ससार और एकत्व ये चार अनुप्रेक्षाएं धर्मध्यान की भावनाए मानी जाती है अर्थात् धर्मध्यान की साधना मे ये भावनाएँ सहायक होती है।[1]

(१) अनित्य अनुप्रेक्षायोग—शरीरासक्ति त्याग साधना

भगवान महावीर ने अनित्य भावना के साधक को एक साधनासूत्र दिया—

से पुव्व पेय, पच्छा पेय भेउरधम्म, विद्धसण-धम, अधुव,
अणितिय, असासय चयावचइय विपरिणामधम्म, पासह एय रूव।

—आचाराग ५/२/५०६

अर्थात्—हे साधक! तुम अपने इस शरीर को देखो। यह पहले अथवा पीछे एक दिन अवश्य ही छूट जायेगा। इसका स्वभाव ही विनाश और विध्वसन है। यह शरीर अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय-अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाएँ होती हे। शरीर के इस रूप को देखो।

शरीर की अनित्यता और मृत्यु की अनिवार्यता के बारे मे दूसरा साधना सूत्र साधक को दिया—

णत्थि कालस्स णागमो। —आचाराग २/२/२३६

शरीर मरणधर्मा हे, यह क्षण-प्रतिक्षण मृत्यु की ओर जा रहा है, इस तथ्य को सभी जानते है, किन्तु उनका आचरण इसके अनुकूल नही होता। माता पुत्र उत्पन्न होते ही भविष्य की आशाएँ-आकाक्षाएँ सजोने लगती हे, किन्तु इस तथ्य को नजर अन्दाज कर जाती है—

मात कहे सुत बाढे मेरो।
काल कहे दिन आवे मेरो॥

---

१ धम्मस्स ण झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ त जहा—
एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, ससाराणुप्पेहा।

—ठाणाग ४/१/२४७

(धमध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही है, यथा—एकत्वानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुपेक्षा और ससारानुप्रेक्षा।)

किन्तु अनित्यभावना का साधक इस लोक परम्परा और लोक-धारणा से अलग हट जाता है, वह शरीर के यथार्थ और वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करता है। शरीर के सत्य को देखता है, कल्पना, व्यामोह और राग के आवरणो को तोडकर सत्य का साक्षात्कार करता है।

अनित्य भावना का साधक कुछ सूत्रो के अनुसार अपनी साधना करता है। उसका पहला सूत्र होता है—'**इम शरीर अणिच्च** यह शरीर अनित्य है। दूसरा सूत्र है--'**इम सरीर चयावचयध** '—यह शरीर चय-अपचय स्वभाव वाला है। कभी यह पुष्ट होता है तो कभी कृश हो जाता है। तीसरा सूत्र है—'**इम सरीर विपरिणामधम्मय**'—विभिन्न प्रकार के परिणमन इस शरीर में होते है। कभी भोजन-पानी से इस शरीर मे परिवर्तन होता है तो कभी सर्दी-गर्मी-बरसात के मौसम से। कभी दूसरे के सतापी पुद्गलो से परिवर्तन होता है तो कभी मनुष्य की अपनी ही भावनाओ, आवेगो-सवेगो से परिवर्तन होता है। इस प्रकार अनेको प्रकार के परिवर्तन इस शरीर मे होते रहते है। काल (समय) कृत परिवर्तन तो होते ही रहते है। चौथा सूत्र है—'**इम सरीर जरामरण-धम्मय**'—वृद्धावस्था और मृत्यु इस शरीर का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है। समय पाकर इसमे वृद्धावस्था भी आयेगी और इसकी मृत्यु भी होगी, आत्मा इसे छोडकर अन्यत्र—अन्य किसी गति-योनि मे जायेगा भी।

इस प्रकार साधक अनित्य भावना की साधना इन चार सूत्रो के आधार पर करता है। प्रेक्षाध्यान मे जब वह अपने औदारिक शरीर की प्रेक्षा करता है तो वहाँ उसे शरीर मे अवस्थित लाखो-करोडो कोशिकाएँ प्रतिपल जीवनशून्य होती हुई, मरती हुई दिखाई देती है। और फिर वह अनित्य अनुप्रेक्षा के चिन्तवन से इस तथ्य को कि शरीर अनित्य है। अपने मन-मस्तिष्क मे दृढीभूत कर लेता है।

इस भावना के चिन्तवन से उसका अपने शरीर के प्रति ममत्व-भाव विनष्ट हो जाता है।

(२) अशरण अनुप्रेक्षा—पर-पदार्थो से विरक्ति की साधना

अशरणता—मेरा कोई रक्षक नही, कोई शरण नही, कोई मेरा नाथ नही—इस अनुप्रेक्षा के साथ मन-मस्तिक को जोडना, योग करना, अशरण अनुप्रेक्षायोग साधना है।

भगवान ने साधक को अशरण अनुप्रेक्षा का सूत्र दिया—

णाल ते तव ताणाए वा, सरणाए वा।
तुमपि तेसिं णाल ताणाए वा, सरणाए वा ॥
—आचाराग २/१९४

अर्थात्—हे साधक ! वे स्वजन तुम्हे त्राण देने मे—शरण देने मे समर्थ नही है, और तुम भी उन्हे त्राण देने मे, शरण देने मे समर्थ नही हो।

सामान्य मनुष्य भी प्रतिदिन अपने सामने गुजरते हुए ससार और ससारी जनो की प्रवृत्तियो को देखता है कि एक-दूसरे के दुख, पीडा, कष्ट को कोई बँटा नही सकता, मृत्यु के मुँह मे जाने वाले को कोई बचा नही सकता, कोई भी एक-दूसरे को शरण नही दे सकता, धन-वैभव, सम्पत्ति, स्वजन-परिजन, मित्र, बन्धु-बान्धव, विविध प्रकार के वैज्ञानिक उपकरण, ओषधियाँ आदि कोई भी किसी को शरण देने मे समर्थ नही है। यह सम्पूर्ण दृश्य प्रत्यक्ष देखकर भी सामान्य मानव इनमे राग करता है, इनके मोह मे मूर्च्छित रहता है।

किन्तु अशरण अनुप्रेक्षा का साधक इन सब साधनो की नश्वरता और क्षण-क्षण बदलते रूप को देखकर इनके प्रति राग भावना का त्याग कर देता है, इनके मोह मे मूर्च्छित नही होता। वह धर्म की शरण को ही वास्तविक शरण मानता है और 'अप्पाण सरण गच्छामि'—मैं आत्मा की शरण मे जाता हूँ, इस सूत्र को हृदयगम करता है, अपनी आत्मा को इस सूत्र से भावित करता है और स्वय को ही समर्थ बनाता है।

वस्तुत अशरण अनुप्रेक्षा की साधना ससार और समस्त सासारिक सम्बन्धो तथा साधनो से राग-त्याग की साधना है। इस भावना द्वारा वह समस्त सयोगज सम्बन्धो और विकल्पो से मुक्त होने का प्रयास करता है। उनके प्रति कल्पित आकर्षण से दूर हटकर वास्तविकता को समझता है।

यदि साधक गृहस्थयोगी है, पारिवारिक और सामाजिक उत्तरदायित्व उसके कन्धे पर है तो वह सिर्फ कर्तव्य भावना से अपनी जिम्मेदारियो को पूरा करता है, उनमे रागद्वेष नही करता, यदि राग-द्वेष होते भी हैं तो अत्यल्प मात्रा मे होते है। वह पुत्र-पुत्रियो तथा अन्य किसी भी पर-वस्तु से कोई आशा-अकाक्षा नही करता। वह अनासक्त भाव से कर्म करता है, सिर्फ कर्तव्य-बुद्धि से।

गृहत्यागी साधक तो पूर्णतया अनासक्त कर्म करता है, क्योकि वह फलाशा को पूर्णतया छोड चुका है।

अशरण भावना, इस अपेक्षा से, अनासक्त योग की साधना है।

किन्तु अनित्यभावना का साधक इस लोक परम्परा और लोक-धारणा से अलग हट जाता है, वह शरीर के यथार्थ और वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करता है। शरीर के सत्य को देखता है, कल्पना, व्यामोह और राग के आवरणो को तोडकर सत्य का साक्षात्कार करता है।

अनित्य भावना का साधक कुछ सूत्रो के अनुसार अपनी साधना करता है। उसका पहला सूत्र होता है—'**इमं शरीर अणिच्च** यह शरीर अनित्य है। दूसरा सूत्र है--'**इम सरीर चयावचयध** '—यह शरीर चय-अपचय स्वभाव वाला है। कभी यह पुष्ट होता है तो कभी कृश हो जाता है। तीसरा सूत्र है—'**इम सरीर विपरिणामधम्मय**'—विभिन्न प्रकार के परिणमन इस शरीर मे होते है। कभी भोजन-पानी से इस शरीर मे परिवर्तन होता है तो कभी सर्दी-गर्मी-बरसात के मौसम से। कभी दूसरे के सतापी पुद्गलो से परिवर्तन होता है तो कभी मनुष्य को अपनी ही भावनाओ, आवेगो-सवेगो से परिवर्तन होता है। इस प्रकार अनेको प्रकार के परिवर्तन इस शरीर मे होते रहते हैं। काल (समय) कृत परिवर्तन तो होते ही रहते है। चौथा सूत्र है—'**इम सरीर जरामरण-धम्मय**'—वृद्धावस्था और मृत्यु इस शरीर का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है। समय पाकर इसमे वृद्धावस्था भी आयेगी और इसकी मृत्यु भी होगी, आत्मा इसे छोडकर अन्यत्र—अन्य किसी गति-योनि मे जायेगा भी।

इस प्रकार साधक अनित्य भावना को साधना इन चार सूत्रो के आधार पर करता है। प्रेक्षाध्यान मे जब वह अपने औदारिक शरीर की प्रेक्षा करता है तो वहाँ उसे शरीर मे अवस्थित लाखो-करोडो कोशिकाएँ प्रतिपल जीवनशून्य होती हुई, मरती हुई दिखाई देती है। और फिर वह अनित्य अनुप्रेक्षा के चिन्तवन से इस तथ्य को कि शरीर अनित्य है। अपने मन-मस्तिष्क मे दृढीभूत कर लेता है।

इस भावना के चिन्तवन से उसका अपने शरीर के प्रति ममत्व-भाव विनष्ट हो जाता है।

(२) अशरण अनुप्रेक्षा—पर-पदार्थो से विरक्ति की साधना

अशरणता—मेरा कोई रक्षक नही, कोई शरण नही, कोई मेरा नाथ नही—इस अनुप्रेक्षा के साथ मन-मस्तिक को जोडना, योग करना, अशरण अनुप्रेक्षायोग साधना है।

भगवान ने साधक को अशरण अनुप्रेक्षा का सूत्र दिया—

णाल ते तव ताणाए वा, सरणाए वा।
तुमपि तेसि णाल ताणाए वा, सरणाए वा ॥
—आचाराग २/६४

अर्थात्—हे साधक ! वे स्वजन तुम्हे त्राण देने मे—शरण देने मे समर्थ नही है, और तुम भी उन्हे त्राण देने मे, शरण देने मे समर्थ नही हो।

सामान्य मनुष्य भी प्रतिदिन अपने सामने गुजरते हुए ससार और ससारी जनो की प्रवृत्तियो को देखता है कि एक-दूसरे के दुख, पीडा, कष्ट को कोई बँटा नही सकता, मृत्यु के मुँह मे जाने वाले को कोई बचा नही सकता, कोई भी एक-दूसरे को शरण नही दे सकता, धन-वैभव, सम्पत्ति, स्वजन-परिजन, मित्र, बन्धु-बान्धव, विविध प्रकार के वैज्ञानिक उपकरण, औषधियाँ आदि कोई भी किसी को शरण देने मे समर्थ नही है। यह सम्पूर्ण दृश्य प्रत्यक्ष देखकर भी सामान्य मानव इनमे राग करता है, इनके मोह मे मूर्च्छित रहता है।

किन्तु अशरण अनुप्रेक्षा का साधक इन सब साधनो की नश्वरता और क्षण-क्षण बदलते रूप को देखकर इनके प्रति राग भावना का त्याग कर देता है, इनके मोह मे मूर्च्छित नही होता। वह धर्म की शरण को ही वास्तविक शरण मानता है और 'अप्पाण सरण गच्छामि'—मैं आत्मा की शरण मे जाता हूँ, इस सूत्र को हृदयगम करता है, अपनी आत्मा को इस सूत्र से भावित करता है और स्वय को ही समर्थ बनाता है।

वस्तुत अशरण अनुप्रेक्षा की साधना ससार और समस्त सासारिक सम्बन्धो तथा साधनो से राग-त्याग की साधना है। इस भावना द्वारा वह समस्त सयोगज सम्बन्धो और विकल्पो से मुक्त होने का प्रयास करता है। उनके प्रति कल्पित आकर्षण से दूर हटकर वास्तविकता को समझता है।

यदि साधक गृहस्थयोगी है, पारिवारिक और सामाजिक उत्तर-दायित्व उसके कन्धे पर है तो वह सिर्फ कर्तव्य भावना से अपनी जिम्मे-दारियो को पूरा करता है, उनमे रागद्वेष नही करता, यदि राग-द्वेष होते भी है तो अत्यल्प मात्रा मे होते है। वह पुत्र-पुत्रियो तथा अन्य किसी भी पर-वस्तु से कोई आशा-अकाक्षा नही करता। वह अनासक्त भाव से कर्म करता है, सिर्फ कर्तव्य-बुद्धि से।

गृहत्यागी साधक तो पूर्णतया अनासक्त कर्म करता है, क्योकि वह फलाशा को पूर्णतया छोड चुका है।

अशरण भावना, इस अपेक्षा से, अनासक्त योग की साधना है।

साधक का भेदविज्ञान सुदृढ हो जाता है, अन्य वस्तुओ को प्राप्त करने की उसकी इच्छा क्षीण होती है, इन्द्रियो के विषयो की ओर रुचि कम हो जाती है, ममत्वभाव कम होकर समत्वभाव प्रादुर्भूत हो जाता है।

साधक का दृढ विश्वास हो जाता है कि ममत्व ही दु ख, चिन्ताओ और मानसिक उद्वेगो का कारण है, अत वह ममत्व को छोडकर समत्व मे लीन होता है। इन सब से अपनी आत्मा को भिन्न समझता है।

इस प्रकार उसका अन्यत्व भाव सुदृढ होता है।

(६) अशुचि भावना पावनता की ओर प्रयाण

अशुचिभावना का अनुचिन्तन करते हुए साधक अपने शरीर की अशुचि को देखता है।

यह शरीर जैसा बाहर है, वैसा ही भीतर है, और जैसा भीतर है वैसा ही बाहर है। साधक इस अशुचि शरीर को अन्दर से अन्दर देखता है और झरते हुए विविध स्रोतो को भी देखता है।[1]

शरीर की अशुचिता को देखने से साधक के मन मे इस शरीर के प्रति रागासक्ति मिट जाती है और वह पावनता तथा पवित्रता की ओर मुडता है। पवित्रता उसे दिखाई देती है आत्मा मे, आत्मिक गुणो मे। उसका शरीर-सौन्दर्य के प्रति मोह मिट जाता है और पवित्रात्मा के अनुभव की ओर वह मुड जाता है। वह अपनी आत्मा पर अपना ध्यान केन्द्रित करने लगता है।

अशुचि भावना, इस प्रकार साधक को शुचिता की ओर, पवित्रता की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त करती है और उसे आत्म-ध्यान की ओर अभिमुख करती है।

(७) आस्रव भावना आन्तर् भावो का निरीक्षण

अब तक की ६ भावनाएँ बाह्य जगत से सम्बन्धित थी। उनके अनुचिंतन द्वारा साधक बाह्य जगत, शरीर आदि के प्रति ममत्व एवं आसक्ति का विसर्जन करता था, उनके प्रति मोह को तोडता था किन्तु इस आस्रव भावना द्वारा वह अपने आन्तरिक जगत का निरीक्षण करता है। वह देखता है कि मन-वचन-काय—इन तीनो योगो की प्रवृत्ति के कारण कर्मो का आगमन हो रहा है।

---

१ जहा अतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अन्तो।
अतो अतो देहन्तराणि पासति पुढो वि सवताइ। —आचाराग २/५/६२

कर्मों का आगमन ही आस्रव है। यह आस्रव पाँच प्रकार का होता है—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग।

इनमे से मिथ्यात्व का नाश तो वह पहले ही कर चुका होता है, शेष चार प्रकार के आस्रव ही उसको शेष होते है। उनका निरीक्षण करके साधक उन्हे न होने देने का प्रयास करता है।

आस्रव भावना की साधना द्वारा साधक को कर्मबन्ध के हेतुओ का परिज्ञान हो जाता है, अत उसमे उनसे विरति की भावना आती है और वह आस्रव के कारणो को अनास्रव के कारण[1] बनाने की ओर गतिशील होता है।

आस्रव वास्तव मे आत्मा के छिद्र है। नाव मे जिस प्रकार छिद्रो मे पानी भरता है और पानी भरने से नाव को डूबने का खतरा पैदा होता है, उसी प्रकार आस्रव के रूप मे आत्मा मे कर्मजल भरता है और वह ससार समुद्र मे डूबता है। आस्रव भावना से अनुभावित साधक अपने मनश्छिद्रो को स्वय देखता है, समझता है, पहचानता है, उन पर ध्यान केन्द्रित करता है, उन स्रोतो से आते हुए कर्म-रूप-जल को समझने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार साधक अपनी दुर्बलता और भूल को पहचानता और पकडता है। भूल को पकड लेना बहुत बडी सफलता है, क्षमता है। वह आगे चलकर उनको बन्द भी कर देता है और समस्त दुर्बलताओ पर विजय भी पा लेता है। अत आस्रव भावना से साधक कर्मास्रवो को जानने पहचानने मे निपुण होता है। फिर उन्हे रोकने का प्रयत्न भी करता है जिसे आगे 'सवर भावना' मे बताया गया है।

(८) सवर भावना मुक्ति की ओर चरणन्यास

सवरयोग, जैन योग का एक बहुत ही महत्वपूर्ण योग है। साधक इस सवर भावना के अनुचितन द्वारा सवरयोग की ही साधना करता है। वह आस्रवो को—कर्मों के आगमन को रोकता है। आस्रव से विपरीत प्रवृत्ति करके वह सवर करता है।[2]

---

१ आचाराग १/४/२/४४१

२ सवर की परिभाषा करते हुए श्री देवसेनाचार्य ने कहा है—

रुन्धिय छिद्दसहस्से जल जाणे जह जल तु णासवदि।

मिच्छत्ताइ अभावे तह जीवे सवरो होइ। —बृहद् नयचक्र १५६

जिस प्रकार नाव के छिद्र रुक जाने से उसमे जल प्रवेश नही करता, उसी प्रकार मिथ्यात्वादि का अभाव हो जाने पर जीव को कर्मों का सवर होता है।

सवर[1] के लिए वह सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग की साधना करता है।

सवर की साधना वह दो रूपो मे करता है। द्रव्यरूप से वह योगो—(मन-वचन-काय को), को स्थिर रखता है और भावरूप से वह मन के सकल्पो-विकल्पो, आवेगो सवेगो कषायो आदि को रोकता है।

इस प्रकार साधक अनास्रव अथवा सवर की साधना करके कर्मबध को रोकता है अन्तश्छिद्रो को ढाँकता है और मुक्ति की ओर अग्रसर होता है।

(९) निर्जरा भावना आत्मशुद्धि की साधना

निर्जरा, आत्मशुद्धि की प्रक्रिया है। आत्मा के साथ जो कर्म बँधे हुए है, उनको आत्मा से दूर करना, झाडना, बन्धनमुक्त करना निर्जरा है। वह निर्जरा तप के द्वारा की जाती है।

इस भावना के अनुचिन्तन मे साधक निर्जरा के लक्षण स्वरूप और साधनो के बारे मे वार-वार चिन्तन-मनन करता है। इस चिन्तन से साधक की आत्मा मे तप, दान, शील के प्रति आकर्षण बढता है। तप करने की हृदय मे भावना जाती है तथा उत्साह एव साहस भी उत्पन्न होता है।

इस आत्मिक साहस, उत्साह और भावना से भी कर्मो की निर्जरा होती है और जव वह तप के मार्ग पर चल पडता है, तप करने लगता है, तव तो वह सभी कर्मो से मुक्त होकर शुद्ध वन जाता है।

इस प्रकार निर्जरा भावना आत्म-शुद्धि का साधन वन जाती है और साधक इस भावना के द्वारा अपनी आत्मा की शुद्धि का प्रयास करता है। साधक मे अदम्य साहस व तितिक्षा वृत्ति जागृत होती है।

---

१ सवर के मुख्य भेद ५ हैं—(१) सम्यक्त्व, (२) विरति, (३) अप्रमाद, (४) अकषाय (५) योगनिग्रह। —स्थानाग ५/२/४१८ तथा समवायाग ५

किन्तु इसके २० और ५७ भेद भी माने जाते हैं।

(क) पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, वारह अनुप्रेक्षा, वाईस परीषहजय, और पाँच चारित्र—ये सवर के ५७ भेद हैं। —स्थानागवृत्ति, स्थान १ (तत्वार्थ सूत्र ९/२)

(ख) सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय, अयोग, प्राणातिपातविरमण, मृषावाद-विरमण, अदत्तादानविरमण, अब्रह्मचर्यविरमण, परिग्रहविरमण, श्रोत्रेन्द्रिय-सवर, चक्षुरिन्द्रियसवर, घ्राणेन्द्रियसवर, रसनेन्द्रिय सवर, स्पर्शनेन्द्रियसवर, मनसवर, वचनसवर, कायसवर, उपकरणसवर, सूचीकुशाग्रसवर—ये २० भेद सवर के होते हैं। —प्रश्नव्याकरण, सवर द्वार तथा स्थानाग १०/७०९

(१०) धर्म भावना : आत्मोन्नति की साधना

धर्म, आत्मा की उन्नति का साधन है। धर्म से ही आत्मा को श्रेयस् की प्राप्ति होती है। धर्म ही प्राणी को ससार के दु खो से बचाकर मुक्ति के उत्तम सुख मे पहुँचाता है।[1] वह धर्म, अहिसा, सयम और तप रूप है और वही सर्वोत्तम मगल है।[2]

धर्मभावना के अनुचिन्तन मे साधक धर्म (केवलिप्रज्ञप्त धर्म) के विविध पहलुओ का चिन्तन करता है तथा उससे आत्मा को भावित करता है। श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्म के भेद-प्रभेद और लक्षणो तथा अहिंसा, सयम और तप आदि का चिन्तन करता है।

इस चिन्तन से साधक की आत्मा मे, उसकी रग-रग मे, आचार-विचार व्यवहार मे सर्वत्र धर्म रम जाता है, उसकी आत्मा धर्म मे भावित हो जाती है और उसका सम्पूर्ण जीवन ही धर्ममय बन जाता है। वास्तविक अर्थ मे वह धर्मात्मा (धर्ममय आत्मा) बन जाता है। धर्म भावना से साधक धर्म के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्य को हृदयगम कर लेता है।

उसके इस धर्ममय आचरण से उसके जीवन मे सुख-शान्ति का सागर लहराने लगता है और उसकी आत्मिक उन्नति होती है।

(११) लोक भावना : आत्मा की शुद्धि

साधक लोक भावना का अनुचिन्तन करते हुए षड्द्रव्यात्मक लोक का विचार करता है। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल—इन छह द्रव्यो तथा उनके गुणो और पर्यायो पर विचार करता है। लोक की शाश्वतता, अशाश्वतता, इसके रचयिता अथवा स्वय निर्मित, उसके सस्थान आदि बातो पर विचार करता है और फिर इस लोक मे अपनी स्थिति पर चिन्तन करता है।

इस सम्पूर्ण चिन्तन से साधक की आस्था शुद्ध हो जाती है, वह लोक के वास्तविक स्वरूप को समझ जाता है। उसकी जिनवचनो के प्रति श्रद्धा प्रगाढ हो जाती है।

लोकानुप्रेक्षा द्वारा साधक को अपनी (आत्मा की) अनादिकालीन लोक यात्रा का अन्त पाने की कुञ्जी प्राप्त हो जाती है, उसका आस्तिक्य भाव शुद्ध और दृढ हो जाता है। वह लोक के स्वीकार के साथ-साथ अपनी

---

१ धर्म कर्मनिवर्हण ससारदु खत सत्त्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे।

— रत्नकरड श्रावकाचार, श्लोक २

२ धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिसा सजमो तवो। —दशवैकालिक १/१

तथा अन्य जीवो और द्रव्यो की स्थिति भी स्वीकार करता है। अन्य जीवो के प्रति उसमे सहिष्णुता और कल्याणभावना जागृत होती है।

यह कल्याणभावना स्वय उसके कल्याण का भी साधन बनती है।

(१२) बोधिदुर्लभ भावना अन्तंजागरण की प्रेरणा

बोधि का अभिप्राय है—सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की उपलब्धि। इसकी उपलब्धि बहुत ही कठिन है।

इस भावना का अनुचितन करते हुए साधक, जीव की क्रमिक उन्नति पर विचार करता है। वह सोचता है—मेरा जीव अनादि काल से भव-भ्रमण कर रहा है। पहले कभी अव्यवहार राशि मे था, फिर व्यवहार राशि मे आया अनन्त काल निगोद मे ही गुजर गया, फिर नरक, तिर्यच की वेदनाएँ सही, असख्यात काल तक एकेन्द्रिय रहा, फिर सख्यात काल द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय मे गुजर गया, पचेन्द्रिय बना तो मनरहित रहा, मनसहित भी हुआ तो पशु-पक्षी बन गया, नरक की वेदना भी सही। मनुष्य बना तो आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल न मिला, मिल भी गया तो धर्म की ओर रुचि न हुई, सयम मे पराक्रम न किया। भाग्ययोग अथवा पुण्यबल से जब मुझे ये सब सयोग प्राप्त हो गये है तो अब मुझे मुक्ति की साधना मे अपना सम्पूर्ण बल-वीर्य-पराक्रम लगा देना चाहिए।

इस प्रकार के चिन्तन से साधक को अन्तर् जागरण की प्रेरणा प्राप्त होती है, उसका अन्तर् हृदय जाग्रत हो जाता है और वह मुक्ति मार्ग पर चल पडता है, मुक्त होने के लिए पूर्ण पुरुषाथ करता है। वह बोधि और सबोधि को प्राप्त करता है।

इस प्रकार इन बारह अनुप्रेक्षाओ (भावनाओ) के चिन्तन-मनन द्वारा साधक अपनी वैराग्य भावना दृढ करता है।

ज्ञान की जुगाली

एक अपेक्षा से अनुप्रेक्षाओ के चिन्तवन को ज्ञान की जुगाली भी कह सकते है। जिस प्रकार गाय आदि पशु पहले तो घास आदि को उदरस्थ कर लेते है और फिर उस घास को शीघ्रता से और भली भाँति हजम करने के लिए एकान्त-शान्त स्थान पर बैठकर अवकाश के समय जुगाली करते है इससे वह घास अच्छी तरह पच जाती है। उसी प्रकार साधक भी धर्मग्रन्थो के स्वाध्याय तथा गुरु-उपदेश से प्राप्त ज्ञान को पहले तो श्रवण और चक्षु इन्द्रियो के माध्यम से ग्रहण कर लेता है और फिर शात-एकान्त क्षणो मे उस पर चिन्तन-मनन करता है, स्मृति पटल पर लाकर उस पर गहराई से विचार करता है। इस प्रक्रिया से गुरु-उपदिष्ट तथा

स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञान उसे हृदयगम हो जाता है। अत अनुप्रेक्षाओ को ज्ञान की जुगाली भी कह सकते है।

वैराग्य भावनाएं

भावनाओ के वर्गीकरण मे द्वादश अनुप्रेक्षाओ को वैराग्य भावना कहा गया है। वैराग्य भावना कहने का कारण यह है कि इनके चिन्तन से साधक का वैराग्य भाव तीक्ष्ण, निर्मल एव दृढ होता है।

योग साधना के लिए वैराग्य सर्वप्रथम और आवश्यक तत्व है। बिना वैराग्य के अध्यात्मयोग मे साधक गति ही नही कर सकता। उसकी सम्पूर्ण गति-प्रगति वैराग्य की दृढता और प्रकर्षता पर ही निर्भर होती है।

वैराग्यहीन योग तो बिना प्राण का शरीर—शव मात्र ही होता है। उस योगविद्या के माध्यम से साधक चमत्कारी सिद्धियाँ भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु मोक्षमार्ग की ओर उसकी गति हो ही नही सकती। सही शब्दो मे ऐसा साधक अपनी आत्मा को पतन की ओर ही ले जाता है।

अध्यात्मयोग के साधक के लिए वैराग्य अति आवश्यक और आधारभूत है। इसीलिए भावनायोग के नाम से अध्यात्मयोग साधना का एक अग भी निर्धारित किया है, जिसमे द्वादश अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन करके साधक अपने वैराग्य को और भी सुदृढ करता है।

अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन से लाभ

अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन से वैराग्य भाव के दृढ होने के अतिरिक्त साधक को और भी कई लाभ होते है। उनमे से कुछ प्रमुख ये है—

(१) **यथार्थता की अनुभूति**—इन द्वादश अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन से साधक को यथार्थता की स्पष्ट अनुभूति होती है। वह शरीर के—लोक के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अशरण भावना से उसे विश्वास हो जाता है कि धर्म के अतिरिक्त ससार मे कोई भी शरण नही है।

(२) **मूर्च्छा और मलो की सफाई का अवसर**—अनादिकालीन मिथ्या सस्कारो और कर्म-मलो के लगे रहने से आत्मा का ज्ञान-दर्शन-चारित्र ससाराभिमुखी और मलिन होता है। उस मल और मिथ्या सस्कारो को परिमार्जन करने का अवसर साधक को इन अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन द्वारा प्राप्त होता है। ससार-सम्बन्धी उसकी मोह-मूर्च्छा का नाश होता है। अशुचि भावना से उसका देहाध्यास छूट जाता है, ससार भावना से उसे ससार दु खमय दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार अन्य भावनाओ के चिन्तन से उसकी मूर्च्छा का नाश होता है।

(शेष पृष्ठ ७९ पर)

तथा अन्य जीवो और द्रव्यो की स्थिति भी स्वीकार करता है। अन्य जीवो के प्रति उसमे सहिष्णुता और कल्याणभावना जागृत होती है।

यह कल्याणभावना स्वय उसके कल्याण का भी साधन बनती है।

(१२) बोधिदुर्लभ भावना अन्तर्जागरण की प्रेरणा

बोधि का अभिप्राय है—सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की उपलब्धि। इसकी उपलब्धि बहुत ही कठिन है।

इस भावना का अनुचितन करते हुए साधक, जीव की क्रमिक उन्नति पर विचार करता है। वह सोचता है—मेरा जीव अनादि काल से भव-भ्रमण कर रहा है। पहले कभी अव्यवहार राशि मे था, फिर व्यवहार राशि मे आया अनन्त काल निगोद मे ही गुजर गया, फिर नरक, तिर्यंच की वेदनाएँ सही, असख्यात काल तक एकेन्द्रिय रहा, फिर सख्यात काल द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय मे गुजर गया, पचेन्द्रिय बना तो मनरहित रहा, मनसहित भी हुआ तो पशु-पक्षी बन गया, नरक की वेदना भी सही। मनुष्य बना तो आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल न मिला, मिल भी गया तो धर्म की ओर रुचि न हुई, सयम मे पराक्रम न किया। भाग्ययोग अथवा पुण्यबल से जब मुझे ये सब सयोग प्राप्त हो गये है तो अब मुझे मुक्ति की साधना मे अपना सम्पूर्ण बल-वीर्य-पराक्रम लगा देना चाहिए।

इस प्रकार के चिन्तन से साधक को अन्तर् जागरण की प्रेरणा प्राप्त होती है, उसका अन्तर् हृदय जागत हो जाता है और वह मुक्ति मार्ग पर चल पडता है, मुक्त होने के लिए पूर्ण पुरुषाथ करता है। वह बोधि और सबोधि को प्राप्त करता है।

इस प्रकार इन बारह अनुप्रेक्षाओ (भावनाओ) के चिन्तन-मनन द्वारा साधक अपनी वैराग्य भावना दृढ करता है।

ज्ञान की जुगाली

एक अपेक्षा से अनुप्रेक्षाओ के चिन्तवन को ज्ञान की जुगाली भी कह सकते है। जिस प्रकार गाय आदि पशु पहले तो घास आदि को उदरस्थ कर लेते है और फिर उस घास को शीघ्रता से और भली भाँति हजम करने के लिए एकान्त-शान्त स्थान पर बैठकर अवकाश के समय जुगाली करते है, इससे वह घास अच्छी तरह पच जाती है। उसी प्रकार साधक भी धर्मग्रन्थो के स्वाध्याय तथा गुरु-उपदेश से प्राप्त ज्ञान को पहले तो श्रवण और चक्षु इन्द्रियो के माध्यम से ग्रहण कर लेता है और फिर शात-एकान्त क्षणो मे उस पर चिन्तन-मनन करता है, स्मृति पटल पर लाकर उस पर गहराई से विचार करता है। इस प्रक्रिया से गुरु-उपदिष्ट तथा

स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञान उसे हृदयगम हो जाता है। अत अनुप्रेक्षाओ को ज्ञान की जुगाली भी कह सकते है।

वैराग्य भावनाएं

भावनाओ के वर्गीकरण मे द्वादश अनुप्रेक्षाओ को वैराग्य भावना कहा गया है। वैराग्य भावना कहने का कारण यह है कि इनके चिन्तन से साधक का वैराग्य भाव तीक्ष्ण, निर्मल एव दृढ होता है।

योग साधना के लिए वैराग्य सर्वप्रथम और आवश्यक तत्व है। बिना वैराग्य के अध्यात्मयोग मे साधक गति ही नही कर सकता। उसकी सम्पूर्ण गति-प्रगति वैराग्य की दृढता और प्रकर्षता पर ही निर्भर होती है।

वैराग्यहीन योग तो बिना प्राण का शरीर—शव मात्र ही होता है। उस योगविद्या के माध्यम से साधक चमत्कारी सिद्धियां भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु मोक्षमार्ग की ओर उसकी गति हो ही नही सकती। सही शब्दो मे ऐसा साधक अपनी आत्मा को पतन की ओर ही ले जाता है।

अध्यात्मयोग के साधक के लिए वैराग्य अति आवश्यक और आधारभूत है। इसीलिए भावनायोग के नाम से अध्यात्मयोग साधना का एक अग भी निर्धारित किया है, जिसमे द्वादश अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन करके साधक अपने वैराग्य को और भी सुदृढ करता है।

अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन से लाभ

अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन से वैराग्य भाव के दृढ होने के अतिरिक्त साधक को और भी कई लाभ होते है। उनमे से कुछ प्रमुख ये है—

(१) **यथार्थता की अनुभूति**—इन द्वादश अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन से साधक को यथार्थता की स्पष्ट अनुभूति होती है। वह शरीर के—लोक के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अशरण भावना मे उसे विश्वास हो जाता है कि धर्म के अतिरिक्त ससार मे कोई भी शरण नही है।

(२) **मूर्च्छा और मलो की सफाई का अवसर**—अनादिकालीन मिथ्या सस्कारो और कर्म-मलो के लगे रहने से आत्मा का ज्ञान-दर्शन-चारित्र ससाराभिमुखी और मलिन होता है। उस मल और मिथ्या सस्कारो को परिमार्जन करने का अवसर साधक को इन अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन द्वारा प्राप्त होता है। ससार-सम्बन्धी उसकी मोह-मूर्च्छा का नाश होता है। अशुचि भावना से उसका देहाध्यास छूट जाता है, ससार भावना से उसे ससार दु खमय दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार अन्य भावनाओ के चिन्तन से उसकी मूर्च्छा का नाश होता है।

(शेष पृष्ठ ७९ पर)

कथा की कथा

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

[स्वाध्याय का पचम अग है—धर्मकथा। धर्मकथा का विशद विवेचन स्थानाग सूत्र मूल, तथा वृत्ति, दशवैकालिकनियुक्ति गाथा १८५ से २०१ तक तथा टीका, मूलाराधना ६५६ एव धवला षट्खडागम भाग १ पृष्ठ १०४ से १०६ आदि अनेक प्राचीन गन्थो मे उपलब्ध है। इन ग्रन्थो मे कथा, विकथा, सत्कथा एव धर्मकथा के सभी अगो पर सूक्ष्म प्रकाश डाला गया है। स्वाध्यायी जिज्ञासुओ की ज्ञान वृद्धि को ध्यान मे रखकर यहाँ मूल आगमानुसारी पाठ तथा वृत्ति के अनुसार विवेचन प्रस्तुत है।

धर्मकथा का स्वरूप जानने से पूर्व विकथा का रूप भी जान लेना चाहिए। स्वाध्यायी बन्धु सामायिक आदि मे चार विकथाओ का परिहार करता है।]

चत्तारि विकथाओ पण्णत्ताओ—त जहा—

१ इत्थिकहा, २ भत्तकहा

३ देसकहा ४ रायकहा।

विकथा चार प्रकार की कही गई है—

१ स्त्री कथा २ भक्त कथा

३ देश कथा ४ राज कथा।

कथन करने की शैली, वचन पद्धति को कथा कहते है। जिस कथा से, साधना एव सयम मे बाधा उत्पन्न होती हो, ब्रह्मचर्य-साधना मे विक्षेप होता हो, स्वाद वृत्ति या रसलोलुपता बढती हो, हिसा तथा क्रूरभावनाओ को प्रोत्साहन मिलता हो, और राजनीतिक चर्चा से राग-द्वेष पूर्ण वातावरण का निर्माण होता हो—ऐसी कथा को विकथा कहा गया है।

—विरुद्धा सयमबाधकत्वेन कथा वचनपद्धतिर्विकथा।

१. स्त्री कथा

इत्थिकहा चउव्विहा पण्णत्ता—

१ इत्थीण जाइकहा २ इत्थीण कुलकहा

३ इत्थीण रूवकहा ४ इत्थीण नेवत्थकहा

स्त्री कथा के चार प्रकार है—

१ स्त्रियो की जाति की कथा २ स्त्रियो के कुल की कथा

३ स्त्रियो के रूप की कथा ४ स्त्रियो की वेशभूषा कथा

१ स्त्रियो की जाति कथा—जैसे क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र आदि को लेकर अमुक जाति की स्त्री की निन्दा-प्रशसा करना स्त्री जाति कथा है—जैसे—

धिग् ब्राह्मणीधवाभावे या जीवति मृता इव।
धन्या मन्ये जने शूद्री पति लक्षेऽप्यनिन्दिता ॥ —वृत्ति

उस ब्राह्मणी (जाति) को धिक्कार है, जो पति के मरने पर जीती हुई भी मरी के समान रहती है। मै तो उस शूद्री को धन्य मानता हूँ जो लाख पतियो का वरण कर लेने पर भी कही निन्दित/अपमानित नही होती।

२ स्त्रियो की कुल सम्बन्धी कथा—अमुक कुल की स्त्री साहसी, प्रेम परायणा होती है, अमुक कुल की नीरस होती है आदि—

३ रूपकथा—स्त्रियो के रूप सम्बन्धी चर्चा—अमुक चन्द्रमुखी है, अमुक की आँखे हरिण जैसी हे मीनाक्षी, मृगनयनी आदि उपमाए देकर शरीर-सौन्दय की चर्चा करना रूपकथा है।

४ नैपथ्य कथा—स्त्रियो के वेशभूषा की चर्चा करना। अमुक प्रान्त या अमुक क्षेत्र की स्त्रियो की वेषभूषा ढीली ढाली है, अमुक प्रकार की है। वे शरीर को खुला रखती है, 'अर्ध ढके छवि देत' या अमुक सम्पूर्ण शरीर को ढक लेती है। वहुत तग वस्त्र पहनती है, अग दीखते हैं अमुक प्रान्त की नारी गुडिया की तरह छुई मुई वनी रहती है, आदि।

दोष —

नीबू की चर्चा करने से मुँह मे स्वत ही पानी छूट आता है। इसी प्रकार स्त्री कथा करने से भावना मे राग व उत्तेजना का सहज सचार होना सभव है। स्त्री कथा से निम्न दोपो की उत्पत्ति की अधिक सम्भावना रहती हे—

आय-पर-मोहुदीरणा उड्डाहो सुत्तमादी परिहाणी।
वभव्वते अगुत्ती पसगदोसा य गमणादी।

—निशीथ भाष्य गाथा १२१

१ स्वय के चित्त मे मोह की उदीरणा
२ सुनकर पर के चित्त मे मोह की उदीरणा
३ जनता मे अपवाह या उसकी चर्चा
४ सूत्र एव अर्थ के अध्ययन की हानि, समय की वर्वादी
५ ब्रह्मचर्य की गुप्ति का भग
६ स्त्री-प्रसग की सम्भावना

कथा की कथा

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

[स्वाध्याय का पचम अग है—धर्मकथा। धर्मकथा का विशद विवेचन स्थानाग सूत्र मूल, तथा वृत्ति, दशवै कालिकनिर्युक्ति गाथा १८५ से २०१ तक तथा टीका, मूलाराधना ६५६ एव धवला षट्खडागम भाग १ पृष्ठ १०४ से १०६ आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थो मे उपलब्ध है। इन ग्रन्थो मे कथा, विकथा, सत्कथा एव धर्मकथा के सभी अगो पर सूक्ष्म प्रकाश डाला गया है। स्वाध्यायी जिज्ञासुओ की ज्ञान वृद्धि को ध्यान मे रखकर यहाँ मूल आगमानुसारी पाठ तथा वृत्ति के अनुसार विवेचन प्रस्तुत है।

धर्मकथा का स्वरूप जानने से पूर्व विकथा का रूप भी जान लेना चाहिए। स्वाध्यायी बन्धु सामायिक आदि मे चार विकथाओ का परिहार करता है।]

चत्तारि विकथाओ पण्णत्ताओ—त जहा—

१ इत्थिकहा, २ भत्तकहा
३ देसकहा ४ रायकहा।

विकथा चार प्रकार की कही गई है—

१ स्त्री कथा २ भक्त कथा
३ देश कथा ४ राज कथा।

कथन करने की शैली, वचन पद्धति को कथा कहते है। जिस कथा से, साधना एव सयम मे बाधा उत्पन्न होती हो, ब्रह्मचर्य-साधना मे विक्षेप होता हो, स्वाद वृत्ति या रसलोलुपता बढती हो, हिसा तथा क्रूरभावनाओ को प्रोत्साहन मिलता हो, और राजनीतिक चर्चा से राग-द्वेष पूर्ण वातावरण का निर्माण होता हो—ऐसी कथा को विकथा कहा गया है।

—विरुद्धा सयमबाधकत्वेन कथा वचनपद्धतिर्विकथा।

१. स्त्री कथा

इत्थिकहा चउव्विहा पण्णत्ता—

१ इत्थीण जाइकहा २ इत्थीण कुलकहा
३ इत्थीण रूवकहा ४ इत्थीण नेवत्थकहा

स्त्री कथा के चार प्रकार है—

१ स्त्रियो की जाति की कथा २ स्त्रियो के कुल की कथा
३ स्त्रियो के रूप की कथा ४ स्त्रियो की वेशभूषा कथा

१ स्त्रियो की जाति कथा—जैसे क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र आदि को लेकर अमुक जाति की स्त्री की निन्दा-प्रशसा करना स्त्री जाति कथा है—जैसे—

धिग् ब्राह्मणीर्धवाभावे या जीवति मृता इव।
धन्या मन्ये जने शूद्री पति लक्षेऽप्यनिन्दिता ॥ —वृत्ति

उस ब्राह्मणी (जाति) को धिक्कार है, जो पति के मरने पर जीती हुई भी मरी के समान रहती है। मैं तो उस शूद्री को धन्य मानता हूँ जो लाख पतियो का वरण कर लेने पर भी कही निन्दित/अपमानित नही होती।

२ स्त्रियो की कुल सम्बन्धी कथा—अमुक कुल की स्त्री साहसी, प्रेम परायणा होती है, अमुक कुल की नीरस होती है आदि—

३ रूपकथा—स्त्रियो के रूप सम्बन्धी चर्चा—अमुक चन्द्रमुखी है, अमुक की आँखे हरिण जैसी है मीनाक्षी, मृगनयनी आदि उपमाएँ देकर शरीर-सौन्दर्य की चर्चा करना रूपकथा है।

४ नैपथ्य कथा—स्त्रियो के वेशभूषा की चर्चा करना। अमुक प्रान्त या अमुक क्षेत्र की स्त्रियो की वेषभूषा ढीली ढाली है, अमुक प्रकार की है। वे शरीर को खुला रखती है, 'अर्ध ढके छवि देत' या अमुक सम्पूर्ण शरीर को ढक लेती है। बहुत तग वस्त्र पहनती है, अग दीखते हैं अमुक प्रान्त की नारी गुडिया की तरह छुई मुई बनी रहती है, आदि।

दोष —

नीबू की चर्चा करने से मुँह मे स्वत ही पानी छूट आता है। इसी प्रकार स्त्री कथा करने से भावना मे राग व उत्तेजना का सहज सचार होना सभव है। स्त्री कथा से निम्न दोषो की उत्पत्ति की अधिक सम्भावना रहती है—

आय-पर-मोहूदीरणा उड्डाहो सुत्तमादी परिहाणी।
बभव्वते अगुत्ती पसगदोसा य गमणादी।

—निशीथ भाष्य गाथा १२१

१ स्वय के चित्त मे मोह की उदीरणा
२ सुनकर पर के चित्त मे मोह की उदीरणा
३ जनता मे अपवाह या उसकी चर्चा
४ सूत्र एव अर्थ के अध्ययन की हानि, समय की बर्बादी
५ ब्रह्मचर्य की गुप्ति का भग
६ स्त्री-प्रसग की सम्भावना

२. भक्त कथा

भत्तकहा चउव्विहा पण्णत्ता,

१ भत्तस्स आवावकहा   २ भत्तस्स णिव्वाव कहा
३ भत्तस्स आरम्भ कहा   ४. भत्तस्स णिट्ठाण कहा

भक्त कथा के चार प्रकार वताये है।

(भोजन के मधुर रस, कट्ठ तिक्तरस, दधि घृत पूरी आदि से सम्बन्धित चर्चा व उनकी निन्दा-प्रशसा करना भक्त कथा है—नियमसार तात्पर्यावृत्ति ६७।)

इसके चार भेद निम्न है—

१ आवाप कथा—रसोई की सामग्री, घृत, साग, ममाला आदि की चर्चा करना।

२ निर्वाप कथा—पक्क या अपक्व अन्न तथा व्यजन आदि की चर्चा करना।

३ आरम्भ कथा—वस्तु के वनाने मे कितनी सामग्री कितना ईंधन आदि आवश्यक होगा इसकी चर्चा करना।

४ निष्ठान कथा—इस वस्तु के वनाने मे इतना धन, इतना मसाला, वूरा-चीनी आदि लगा—इसकी चर्चा करना।

दोष —आहार सम्वन्धी चर्चा करने से निम्न अनेक दोपो की उत्पत्ति होती है।

१ आहार मे आसक्ति, स्वाद आदि की स्मृति से रस गृद्धि व इगाल धूम आदि दोष की सम्भावना।

२ अजितेन्द्रियता—खासकर रस इन्द्रिय नियन्त्रण मुक्त हो जाती है।

३ औदारिकवाद—इस प्रकार की चर्चा करने वाले को लोग पेटू या उदर-गृद्ध कहने लगते हैं। —निशीथ भाष्य १२४

३. देश कथा

(देश—क्षेत्र, पर्वत, नगर, ग्राम आदि की चर्चा तथा इनमे राग-द्वेष की भावना से गुण-दोष वताना देश कथा है। —मूल आराधना ८५६)

देसकहा चउव्विहा पण्णत्ता,

१ देसविहि कहा,   २ देसविप्पकहा
३ देसच्छदकहा   ४ देसणेवत्थ कहा

१ देश विधि कथा—विभिन्न देशो मे प्रचलित भोजन आदि बनाने के प्रकार तथा वहाँ के कानून आदि की चर्चा करना।

२ देशविकल्प कथा—भिन्न-भिन्न देशो मे अनाज, फसल आदि की उपज, जलवायु, परकोटे, आदि की चर्चा करना।

३ देशच्छन्द कथा—विभिन्न देशो के विवाह-मृत्यु-जन्म सम्बन्धी रीति-रिवाजो की चर्चा करना।

४ देश नेपथ्य कथा—विभिन्न देशो की वेशभूषा, अलकार-आभूषण आदि की चर्चा करना।

दोष —

आचार्य जिनदासगणी के अनुसार इस प्रकार की देश कथा करने से मुख्य रूप से निम्न दोषो की वृद्धि होती है—

रागद्दोसुप्पत्ती सपक्ख-परपक्खओ य अधिकरण।
बहुगुण इमोत्ति दोसो सोत्तु गमण च अण्णेसि॥

—निशीथ भाष्य १२७

१ राग द्वेष की उत्पत्ति होती है।

२ स्वपक्ष तथा परपक्ष मे उत्तेजना या कलह हो सकता है।

३ अमुक देश मे गुण है, अमुक देश मे दोष है—यह सुनकर कोई वहाँ जावे या कोई वह देश छोडकर अन्य देशो मे जाने को तत्पर होता है।

४. राज कथा

रायकहा चउव्विहा पण्णत्ता—

१ रण्णो अतियाण कहा २ रण्णो णिज्जाण कहा
३ रण्णो बल वाहण कहा, ४ रण्णो कोस-कोट्ठागार कहा

राज कथा के चार प्रकार है—

(राजाओ के युद्ध, सेना, कोष, अर्थव्यवस्था तथा शस्त्र सग्रह आदि से सम्बन्धित कथा-राज कथा है।)

इसके चार प्रकार है—

१ राजा की अतियान कथा—नगर आदि मे राजा के प्रवेश, शोभा यात्रा आदि की कथा।

२ निर्याण कथा—राजा के निष्क्रमण-बाहर जाने की कथा।

३ बलवाहन कथा—सेना एव वाहनो की कथा।

४ कोष कोष्ठागार कथा—राजकोष तथा अन्न भण्डार आदि की चर्चा करना।

दोष —

इस प्रकार की कथा करने से निम्न दोपोत्पत्ति की सम्भावना रहती है—

१ गुप्तचर चोर आदि होने की आशका होती है।

२ कोई भुक्तभोगी हो या कोई अभुक्तभोगी हो, वह इस प्रकार की चर्चा सुनकर प्रव्रज्या छोडकर पलायन करने की इच्छा कर सकता है।

३ राजा आदि वनने की अभिलाषा आकाक्षा उत्पन्न हो सकती है। —निशीथ भाष्य १३०

विकथा के भेद—

इस प्रकार चार विकथा के ४×४=१६ भेद होते है। यो सोलह प्रकार की विकथा है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड के अनुसार विकथा के २५ भेद होते है।

भगवान महावीर ने कहा है—जो निर्ग्रन्थ आदि इस प्रकार की विकथा वार-वार करते रहते है—उनको अतिशय ज्ञान दर्शन तत्काल उत्पन्न होते-होते रुक जाते है—**अतिसेसे णाण-दसणे समुप्पाज्जिउकामे वि ण समुप्पज्जेज्जा**—(स्थानाग ४) और जो इस प्रकार की कथाएँ नही करते, उनको अतिशय ज्ञान-दर्शन की तत्काल उत्पत्ति सुलभ होती है।

सत्कथा—महापुराण (१-१८) के अनुसार सत्कथा और धर्मकथा—दो कथा उपादेय है।

जिस कथा मे द्रव्यानुयोग आदि आगमो की चर्चा हो, जीव के स्वर्ग मोक्ष-अभ्युदय आदि की प्राप्ति के साधनो की कथा हो, वह धर्मकथा है।

जिसमे धर्म का, धर्मफल का पुण्य—आदि का निरूपण हो, वह सत्कथा है।

धर्म कथा

जिस चर्चा से आत्मा स्वर्ग, मोक्ष के उपायभूत सद्धर्म की जानकारी प्राप्त करता है उस चर्चा या कथा को धर्मकथा कहा जाता है। आगमो का अधीत विषय, जो मन मे स्थिर हो गया है, जिस पर चिन्तन-मनन किया हो, उस विषय को वचनयोग द्वारा प्रकट करना भी धर्म-कथा है।

धर्म कथा के चार प्रकार है—वास्तव मे मूल आगम मे सिर्फ 'कथा' शब्द ही है। चउव्विहा कहा—किन्तु इनके विषय धर्मोन्मुखी होने से आचार्यो ने इन्हे धर्मकथा मे परिगणित किया है।

चउव्विहा कहा पण्णत्ता।

१ अक्खेवणी　　　　२ विक्खेवणी

३ सवेयणी　　　　४ णिव्वेयणी

धर्मकथा के चार प्रकार कहे है—

१ आक्षेपणी,　　　　२ विक्षेपणी

३ सवेजनी　　　　४ निर्वेदनी

१ **आक्षेपणी**—षट्द्रव्य, नवतत्त्व आदि का ज्ञान, तथा सामायिक चारित्र आदि का निरूपण कर उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न करने वाली कथा।—

आक्षेपणी स्वमत सग्रहणी—

जिस कथा मे अनेकान्त सिद्धान्त की स्थापना हो वह आक्षेपणी है।

—षट्खण्डागम भाग १ पृ १०५ तथा आगार धर्मामृत

२ **विक्षेपणी**—अन्य दर्शनो की एकान्तवादी मान्यताओ का पूर्व पक्ष स्थापित करके फिर हेतु-तर्क-दृष्टान्त आदि द्वारा उनका निरसनकर स्वमत (अनेकान्त) की स्थापना करने वाली कथा।

३ **सवेजनी**—जीवन आदि की नश्वरता, और दुख बहुलता तथा शरीर की अशुचिता-असारता दिखाकर वैराग्य जागृत करने वाली कथा।

कुछ आचार्यो के अनुसार सवेयणीणाम पुण्ण फल कहा—पुण्य के शुभ फलो का निदर्शन करने वाली कथा। जिस कथा से मन मे सवेग—धर्म के प्रति उत्साह जागृत हो, वह कथा।

वीरिय विउव्वणिद्ढी नाण-चरण-दसणाण तह इड्ढी।
उवइस्सइ खलु जहिय कहाइ सवेयणीइ सो॥

—दशवै निर्युक्ति २००

ज्ञान-दर्शन-चारित्र सम्बन्धी ऋद्धि, तीर्थकर आदि की ऋद्धि, वैक्रिय लब्धि आदि का उपदेश अथवा इनका निदर्शन करने वाली सवेजनी कथा है।

४ **निर्वेदनी**—कृत कर्मो के शुभाशुभ फल दिखलाकर ससार के प्रति उदासीनता—विरक्ति पैदा करने वाली कथा। कुछ आचार्यो के अनुसार—णिव्वेयणी णाम पाव फलसकहा—पाप के अशुभ फल और तद्जन्य दुखो का दर्शन-कराने वाली कथा। निर्वेद—ससार के प्रति, भोगो के प्रति विरक्ति उत्पन्न करने वाली कथा।

इन चारो कथाओ का धवला आदि दिगम्बर परम्परा मान्य ग्रन्थो मे इस प्रकार विवेचन किया है।

> आक्षेपणी तत्वविधानभूता विक्षेपणी तत्वदिगन्तशुद्धिम्।
> सवेगिनी धमफलप्रपञ्चा निर्वेजिनी चाह कथा विरागाम्।
>
> —धवला १/१—१,२/१०५

- ☐ तत्वो का विधान करने वाली कथा आक्षेपणी है।
- ☐ तत्व रूपी दिशान्तर—अन्य दिशा को प्राप्त हुई दृष्टि की शुद्धि करने वाली कथा—विक्षेपणी है।
- ☐ विस्तारपूर्वक धर्म के फल का विवेचन करने वाली कथा—सवेजनी है। इसमे पुण्य-फल का—तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव, विद्याधर आदि की ऋद्धियाँ, पुण्य का फल इनका विवेचन करने वाली कथा—सवेजनी है।
- ☐ निर्वेजनी—जिस कथा के श्रवण से वैराग्य की प्राप्ति हो, पाप के फल—नश्वर शरीर, तिर्यच, नारक योनि आदि के दुखो का दिग्-दर्शन कराने वाली कथा।

—षट्खण्डागम के आधार पर जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग २

विविध भेद

१. आक्षेपणी

अक्खेवणी कहा चउव्विहा—

१ आयार अक्खेवपणी   **२ ववहार अक्खेवणी**

३ पण्णत्ति अक्खेवणी   **४ दिट्ठिवात अक्खेवणी**

आक्षेपणी कथा के चार प्रकार कहे है—

१ **आचार आक्षेपणी**—जिस कथा मे आचार का निरूपण हो, वह। आचाराग आदि आचार सम्बन्धी आगमो की कथा।

२ **व्यवहार आक्षेपणी**—व्यवहार—दोष विशुद्धि के लिए प्राय-श्चित्त आदि का निरूपण करने वाली कथा अथवा व्यवहार आदि आगम सम्बन्धी चर्चा।

३ **प्रक्षिप्त आक्षेपणी**—जिसमे शका आदि के समाधान की चर्चा हो, सशयग्रस्त को समझाने वाली कथा, अथवा प्रज्ञप्ति—व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (भगवती) आदि से सम्बन्धित कथा।

४ दृष्टिपात आक्षेपणी—जिस कथा मे श्रोता की योग्यता के अनुसार विविध नय आदि दृष्टियो से तत्व को निरूपण हो अथवा दृष्टिवाद १२ वा अग सम्बन्धी चर्चा करना ।

दशवैकालिक सूत्र मे उक्त शब्द आये है—

आयार-पन्नत्तिधरो दिट्ठिवाय महिज्जगो—

आचार प्रज्ञप्ति का धारक, दृष्टिवाद का अध्येता—उक्त आधार पर वृत्तिकार ने उक्त अर्थ मे आचाराग, आदि आगमो का निर्देश किया है—देखे दशवै ८/४६ ।

२. विक्षेपणी कथा

विक्खेवणी कहा चउव्विहा—

१ ससमय कहेइ

२ परसमय कहित्ता ससमय ठावइत्ता भवइ

३ सम्मावाय कहइ, सम्मावाय कहिता मिच्छावाय कहेइ

४ मिच्छावाय कहेत्ता सम्मावाय ठावइता भवइ

—विक्षेपणी कथा के चार प्रकार हैं ।

१ सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति—पहले अपने सिद्धान्त का कथन कर, फिर दूसरे सिद्धान्त का कथन करता है ।

२ दूसरे के सिद्धान्त या मान्यता आदि का कथन करके फिर अपने सिद्धान्त की स्थापना करता है ।

३. पहले सम्यक्वाद का प्रतिपादन—स्थापना करके फिर मिथ्यावाद का कथन करता हे ।

४ मिथ्यावाद का कथन करके, पहले असत्य का निदर्शन कराकर फिर सम्यग्वाद का कथन करता है ।

३. संवेजनी कथा—

सवेयणी कहा चउव्विहा—

१ इहलोग सवेयणी	**२ परलोग सवेयणी**
३ आतसरीर सवेयणी	**४ पर-सरीर सवेयणी**

सवेजनी कथा के चार प्रकार है—

१ इहलोक सवेजनी—मनुष्य जीवन की नश्वरता दिखाने वाली कथा ।

२ परलोक सवेजनी—देव, तिर्यंच, आदि के जन्मो की मोह-मयता तथा दु खमयता का दिग्दर्शन कराने वाली कथा ।

३ आत्म-शरीर सवेजनी—अपने शरीर की अशुचिता असारता का उद्घाटन करने वाली कथा,

४ पर-शरीर सवेजनी—दूसरे के शरीर की अशुचिता का प्रतिपादन करने वाली कथा—

इन चारो भेदो मे मुख्यत सवेग का उद्बोधन है जिससे ससार एव भोगो के प्रति आसक्ति कम होती है।

४ निर्वेदनी कथा—

णिव्वेदणी कहा—चउव्विहा—

१. इहलोगे दुच्चिण्णाकम्मा इह लोगे दुहफलविवाग-सजुत्ता भवति।
२ इहलोगे दुच्चिण्णाकम्मा परलोगे दुहफलविवागसजुत्ता भवति।
३ परलोगे दुच्चिण्णाकम्मा इहलोगे दुहफलविवागसजुत्ता भवति।
४ परलोगे दुच्चिण्णाकम्मा परलोगदुहफलविवागसजुत्ता भवति।

१ इहलोगे सुच्चिण्णाकम्मा इहलोगे सुहफलविवागसजुत्ता भवति।
२ इहलोगे सुच्चिण्णाकम्मा परलोगे सुहफलविवागसजुत्ता भवति।
३ परलोगे सुच्चिण्णाकम्मा इहलोगे सुहफल विवागसजुत्ता भवति।
४ परलोगे सुच्चिण्णाकम्मा परलोगे सुहफलविवागसजुत्ता भवति।

निर्वेदनी कथा के चार प्रकार है—

१ इहलोक मे दुश्चीर्णकर्म—बुरे आचरित कर्म—(अशुभ कर्म) इसी लोक मे दु खमय फल देने वाले होते है।

२. इहलोक मे दुराचरित कर्म परलोक मे दु खमय फल देने वाले होत है।

३ परलोक मे दुश्चीर्ण कर्म इहलोक मे दु खमय फल देने वाले होते हैं।

४ परलोक मे दुश्चीर्ण कर्म परलोक मे दु खमय फल देने वाले होते है।

१ इहलोक मे सुआचरित (किये हुए शुभ कर्म) इसी लोक मे सुखमय शुभफल देने वाले होते है।

२ इहलोक मे सुआचरित कर्म परलोक मे सुखमय फल देने वाले होते है।

३ परलोक मे सुचीर्ण कर्म इहलोक मे सुखमय फल देने वाले होते है।

४ परलोक मे सुचीर्ण कर्म परलोक मे सुखमय फल देने वाले होते है।

इस प्रकार निर्वेदनी कथा के चार रूप अशुभ कर्म का अशुभ फल दिखाने वाले है और चार रूप शुभ कर्म का शुभ फल—यो आठ विकल्प बनते है।

वस्तुत कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि—कृत कर्म का बिना भोगे मोक्ष नही तथा जहा कड कम्म तहासि भारे—जैसा कर्म किया है वैसा ही फल मिलता है—इस शाश्वत अटल कर्म सिद्धान्त का निरूपण कर कर्मफल का ज्ञान देकर मनमे वैराग्य की जागृति करने वाली कथा—निर्वेदनी कथा है।

—सम्पूर्ण वर्णन स्थानाग सूत्र चतुर्थस्थान सूत्र—२४१ से २५० के अनुसार है।

□□

(शेष पृष्ठ ६६ का)

(३) मन की निर्मलता—मिथ्या-सस्कार, मोह-मूर्च्छा का नाश होने का परिणाम यह होता है कि साधक के मन मे जो कलुषता थी उसका भी नाश हो जाता है, मन मे उठने वाले आवेग-सवेगो के भाव और सकल्प-विकल्प उपशान्त हो जाते है। इसका परिणाम मन की निर्मलता होता है।

साधक का मन ज्यो-ज्यो निर्मल होता है, उसमे वैराग्य का भाव बढता जाता है, उसकी आध्यात्मिक उन्नति होती है, उसकी आत्म-चेतना की धारा उन्नति के सोपानो पर चढती जाती है।

इस प्रकार द्वादश अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन-मनन से साधक को अपरिमित लाभ होता है। यही कारण है कि गृहस्थ और गृहत्यागी—दोनो प्रकार के साधक अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन करके आत्मिक उन्नति के प्रति सजग रहते हैं।

द्वादश अनुप्रेक्षाओ के चिन्तन-मनन-अनुशीलन-अनुचिन्तन से साधक के हृदय मे निवृत्ति-निर्वेद और परम शान्ति का सचार होने लगता है, एव उसका वैराग्य दृढ से दृढतर हो जाता है, इसीलिए इन बारह अनुप्रेक्षाओ को वैराग्य भावना कहा गया है। □

आध्यात्मिक प्रश्न-उत्तर

१ अध्यात्म का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अध्यात्म दो शब्दो अधि+आत्मा से मिलकर बना है। जिन क्रियाओ, विचारो और ज्ञान-विज्ञान का आधार आत्मा है अथवा जो आत्मा से सबधित है, आत्मा की उन्नति और शुद्धि करने वाले है, वे सब अध्यात्म की परिधि मे आते है।

२ प्रश्न—आध्यात्मिक साधना का उद्देश्य क्या है ? कृपया बतलावे।
उत्तर—आध्यात्मिक साधना का उद्देश्य है, क्रोध आदि कषायो की उपशान्ति, राग द्वेष की निवृत्ति, आत्मोन्नति एव आत्मिक शान्ति की प्राप्ति।

३ प्रश्न—इस साधना का लक्ष्य क्या है ?
उत्तर—इसका लक्ष्य है समस्त दुखो का नाश और ससार-समुद्र को पार करके, अनन्त, अव्याबाध और शाश्वत सुख रूप मुक्ति की प्राप्ति।

४ प्रश्न—यह साधना किस प्रकार की जा सकती है ?
उत्तर—इस साधना के दो प्रकार है—(१) सामायिक और (२) स्वाध्याय।

सामायिक सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

५ प्रश्न—सामायिक का अभिप्राय बताइये।
उत्तर—सामायिक का अभिप्राय है—रागद्वेष की प्रवृत्ति और सावद्य अर्थात् सभी सासारिक एव पापकर्मो का त्याग करके एकान्त, शान्त स्थान मे बैठकर आत्मचिंतन, धर्मध्यान आदि मे चित्त को लगाना।

६ प्रश्न—क्या यह शात स्थान कोई भी, यथा—घर भी हो सकता है ?
उत्तर—हो तो सकता है किन्तु घर मे इतनी शाति नही मिल पाती, इसलिए उपाश्रय अथवा स्थानक मे करना अधिक उचित है क्योकि वहाँ धार्मिक वातावरण रहता है। फिर भी यदि स्थानक घर से बहुत दूर है, अथवा साधक ऐसे गाँव नगर मे, किसी कार्यवश गया हुआ है जहा स्थानक है ही नही तो वह घर मे किसी धर्मशाला आदि शात स्थान मे जहाँ कि चित्त मे विक्षेप पैदा करने वाला वातावरण न हो, सामायिक कर सकता है।

६ प्रश्न—क्या सामायिक के लिए काल की मर्यादा भी है ?
उत्तर—हाँ, सामायिक कम से कम एक मुहूर्त यानी ४८ मिनट की होती है। ४८ मिनट के कालमान से जितनी सामायिक चाहे कर सकता है। यह श्रावक की—गृहस्थ साधक की मर्यादा है। साधु की सामायिक तो जीवन भर के लिए है।

७ प्रश्न—गुरुदेव ! मेरे प्रश्न श्रावक से ही सबंधित है।
तो अब यह बताइये कि यदि कभी ऐसी परिस्थिति आ जाय कि ४८ मिनट का अवकाश ही न हो, जैसे—ट्रेन पकडना, व्यापार सम्बन्धी कोई कार्य, डाक्टर या वकील आदि से मिलना ऐसे सैकडो काय हो सकते हैं। ऐसी स्थिति मे यदि ४८ मिनट से कम समय यानी १०, २०, ३०, ४० मिनट तक धर्मध्यान कर लिया जाय तो क्या वह सामायिक नही कही जायेगी ?
उत्तर—श्रावक के लिए तो शास्त्रो का स्पष्ट विधान है कि सामायिक कम से कम ४८ मिनट तक तो करनी ही चाहिए। इससे कम समय तक हुई आध्यात्मिक साधना धर्मध्यान या सवर तो है किन्तु यह सामायिक व्रत नही है।

८. प्रश्न—अब सामायिक की विधि बताइये, किस प्रकार सामायिक शुरू करे ?
उत्तर—सामायिक प्रारम्भ करने से पहले चार शुद्धि करना आवश्यक है।

९ प्रश्न—ये शुद्धियाँ कौन-कौन सी है ?
उत्तर—ये शुद्धियाँ है—(१) काल शुद्धि (२) क्षेत्र शुद्धि, (३) द्रव्य शुद्धि (४) भाव शुद्धि।

१० प्रश्न—काल के विषय मे तो आप अभी-अभी बता चुके है।
उत्तर—नही, वह तो सामायिक की काल-सीमा यानी समय मर्यादा बताई है, वह काल शुद्धि नही है।

११ प्रश्न—तो काल शुद्धि का क्या अभिप्राय है ?
उत्तर—काल शुद्धि से अभिप्राय है कि साधक को ऐसा समय सामायिक के लिए चुनना चाहिए, जिसमे कोलाहल न हो, वातावरण शात हो, जिससे उसकी साधना मे विघ्न न पडे।

१२ ऐसा कौन-सा समय हो सकता है ?
उत्तर—ग्रन्थो मे सामायिक के काल के लिए 'त्रि-सन्ध्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ यह है कि प्रात ब्राह्म मुहूर्त, दोपहर के

समय और सायकाल सध्या के सामायिक करनी चाहिए। यह समय उचित है।

लेकिन आधुनिक युग विज्ञान का है। इस काल मे यान्त्रिक सभ्यता का बोलबाला है। दिन के समय और यहाँ तक कि आधी रात तक ट्रेनो की घडघडाहट, ट्रको के होर्न, मोटर कारो, मोटर साइकिलो, स्कूटरो, मोपेडो की ह्विसिल, मनुष्यो की चीख-पुकार आदि का कानफोड शोर होता रहता है। ऐसे शोर मे ध्यान लगना कठिन होता है। शहरी वातावरण दिन भर अशात वना रहता है।

किन्तु प्रात काल का ब्राह्म मुहूर्त ऐसा होता है जबकि सर्वत्र शान्ति छाई रहती है। इसलिए गृही साधक के लिए प्रात काल का समय ही सर्वश्रेष्ठ है। इस समय वातावरण मे प्रदूषण भी नहीवत् रहता है, प्रकृति उत्फुल्ल होकर विहँसती है, साधक के हृदय मे प्रफुल्लता रहती है। रात भर विश्राम के कारण शरीर भी आलस्य-निद्रा मुक्त रहता है। अत ऐसे समय मे धर्मध्यान अच्छी तरह होता है।

इसके अतिरिक्त काल शुद्धि के लिए अन्य बातो का विचार भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ– घर के किसी सदस्य को ट्रेन पकडनी है, बच्चो को स्कूल-कालेज जाना है, घर मे किसी रोगी को औषध देने का समय हो रहा है। ऐसे समय मे यदि साधक सामायिक लेकर बैठ जाय तो क्लेश व चिन्ता का कारण बन जायेगा।
अत इन सब बातो का विचार करके उचित समय चुनना ही सामायिक की काल शुद्धि है।

१३ प्रश्न—क्षेत्र शुद्धि का स्वरूप बताइये।

उत्तर—क्षेत्र ऐसा हो जहाँ गन्दगी न हो, लोगो का अधिक आवा-गमन न हो, स्थान स्वच्छ और साफ हो। स्थान ऐसा हो जहाँ शुद्ध भावधारा न टूटे, चित्त मे चचलता न आये, बच्चो का क्रीडास्थल न हो, विषय-विकार बढाने वाले शब्द कान मे न पडे, स्त्री पुरुषो के हास्य विनोद आदि न होते हो।

कल्पना करिए, साधक एक कमरे मे सामायिक लिए बैठा है, उसी के बगल के कमरे मे उच्च स्वर से रेडियो या लाउडस्पीकर फिल्मी गीतो का प्रसारण कर रहा है तो क्या साधक का ध्यान स्वाध्याय आदि आत्म-साधना मे स्थिर रह सकेगा ?

इन सब बातो का विचार क्षेत्र शुद्धि के लिए किया जाता है।
इसलिए सामायिक साधना का सर्वश्रेष्ठ स्थान उपाश्रय है।

१४. प्रश्न—द्रव्य शुद्धि से क्या समझना चाहिए ?

उत्तर—द्रव्य का अर्थ यहाँ बाह्य है, द्रव्य-शुद्धि यानी बाह्य शुद्धि। आत्म-साधना, यानी सामायिक साधना के उपयोग मे आने वाले उपकरण, जैसे—आसन, पूंजणी, वस्त्र, मुख वस्त्रिका, पुस्तक आदि द्रव्य मे गिने जाते है।

ये सभी शुद्ध और स्वच्छ होने चाहिए। लेकिन स्वच्छता का अर्थ बहुमूल्यता नही, रेशम आदि के कीमती वस्त्र साधक के लिए उचित नही है। उसके वस्त्र आदि सारे उपकरण स्वच्छ-सादे होने के साथ-साथ अल्पमूल्य वाले भी हो।

द्रव्य शुद्धि मे वेशभूषा भी परिगणित की जाती है। साधक को गृहस्थ वेश उतारकर साधक के योग्य वेश धारण करना चाहिए।

जरा कल्पना करिए आज का एक युवक सामायिक लेता है। वह कोट-पेट आदि पहनकर ही सामायिक मे बैठ जाता है तो कैसे वह घुटना मोडकर गुरुदेव को वन्दन करेगा, कैसे सामायिक की आज्ञा लेगा, कैसे पद्मासन से बैठकर ध्यान करेगा, उसे कितनी असुविधा होगी। नही कर सकेगा न!

फिर दूसरी बात यह है कि वस्त्रो का मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पडता है, जितना सादा और साधक के योग्य वेश होगा, उतने ही अधिक उसके विचार शुद्ध होगे।

एक बात और, एक उपाश्रय मे कई साधक सामायिक कर रहे है, कोई कोट पतलून की पश्चिमी वेशभूषा मे है तो कोई धोती कुर्ते मे और कोई पजामा कमीज मे, इस तरह सभी की वेश-भूषा अलग-अलग है, तो इस दृश्य का बाहरी व्यक्तियो पर क्या प्रभाव पडेगा ? वह यही समझेगा न कि, यह वेश-भूषाओ का फैशन-शो है, अथवा ये विभिन्न लोग नाटक देखने बैठे है।

इस तरह तो साधना की गरिमा ही समाप्त हो जायेगी। अत सभी साधको की वेश-भूषा एक समान होनी चाहिए।

१५ प्रश्न—आपने इन तीन शुद्धियो का स्वरूप तो विस्तार से समझा दिया, मैं समझ गया। अब भाव शुद्धि के बारे मे बताइये।

उत्तर—भाव शुद्धि के अन्तर्गत तीन प्रकार की शुद्धि की जाती है—
(१) मनशुद्धि, (२) वचन शुद्धि और (३) काय शुद्धि।

(१) मन शुद्धि का अभिप्राय, हृदय और मस्तिष्क मे पाप के, सामारिक क्रिया-कलापो के, घर-व्यापार सम्बन्धी समस्याओ के विचार भी न आये। धार्मिक विचारो से मन ओत-प्रोत रहे।

(२) वचन शुद्धि मे कर्कश, कठोर, निद्य तथा सावद्य वचनो का बिलकुल भी प्रयोग न हो। सामायिक साधना के दौरान साधक न गर्व भरे वचन बोले और न दीन शब्दो का प्रयोग ही करे, किसी की खुशामद भी न करे।

जहाँ तक सम्भव हो साधक मौन ही रहे और यदि बोलना आवश्यक ही हो जाय तो सीमित मात्रा मे साताकारी सत्य वचन बोले।

(३) काय शुद्धि का अभिप्राय इतना ही है कि शरीर साफ-सुथरा हो गदा न हो, क्योकि गन्दगी चित्त मे जुगुप्सा पैदा करती है।

वैसे यहाँ कायशुद्धि से अभिप्राय शरीर और शरीर से सबधित सभी क्रियाओ मे सावधानी है। साधक को उठना-बैठना, चलना आदि सभी क्रियाएँ सावधानी से करनी चाहिए।

१६ प्रश्न—अभी आपने छठे प्रश्न के उत्तर मे सामायिक के दो प्रकार बताये थे—(१) साधु की सामायिक और (२) श्रावक की सामायिक तो सामायिक के यह दो ही भेद है अथवा और भी प्रकार हैं ?

उत्तर—साधु की सामायिक और श्रावक की सामायिक—यह दो भेद तो काल की मर्यादा की अपेक्षा से है, अन्य अपेक्षाओ से और भी भेद होते है।

१५ प्रश्न—वे कौन-कौन से हैं ?

उत्तर—क्रिया की अपेक्षा से दो भेद है—(१) द्रव्य सामायिक (२) भाव सामायिक।

१८ प्रश्न—द्रव्य सामायिक किसे कहते है ?

उत्तर—द्रव्य का अभिप्राय है—बाहरी दिखावटी क्रिया। जब साधक सामायिक लेकर बैठ जाय, पूँजणी आदि उपकरण भी पास रख ले, स्तोत्र आदि भी बोले या हाथ मे माला लेकर सस्वर मन्त्र जाप करे, लेकिन इन सब क्रियाओ मे उसका मन न लगे, मन इधर-उधर की सैर करता रहे, तो वह द्रव्य सामायिक है।

यह ऐसी ही समझो—

मनुवा फिरे बाजार मे, जीभ फिरे मुख माहि।
हाथन मे माला फिरे, यह तो सुमिरन नाहि॥

ऐसी सामायिक से कोई विशेष लाभ नहीं होता।

१९ प्रश्न—भाव सामायिक क्या है ?
उत्तर—जब द्रव्य सामायिक की क्रियाओ मे मन भी जुड जाता है तब वह भाव सामायिक बन जाती है। इसका फल अचिन्त्य होता है। ऐसी सामायिक पूणिया श्रावक ने की थी। जिसकी कीमत तो बहुत दूर, मगधेश श्रेणिक का समस्त वैभव उसकी दलाली भी न कर सका, तुच्छ पड गया।

२० प्रश्न—मैं भाव सामायिक का माहात्म्य समझ गया। क्या इसके अतिरिक्त भी सामायिक के और प्रकार है ?
उत्तर—व्यवहार भाष्य मे सामायिक के तीन प्रकार बताये हैं—
(१) सम्यक्त्व सामायिक (२) श्रुत सामायिक (३) चारित्र सामायिक।
सम्यक्त्व सामायिक के प्रभाव से विषय कषाय और राग-द्वेष मे आत्मा के तीव्र परिणाम नही हो पाते। वह मन्द कषायी रहता है।
श्रुत सामायिक का अर्थ है शास्त्र-ज्ञान मे रमणता।
शास्त्र अथवा ज्ञानाभ्यास से आत्मा मे समभाव आता है।
इन दोनो सामायिको की कोई समय सीमा नही है।
तीसरा चारित्र सामायिक साधना रूप है। इसके ही साधु और श्रावक की सामायिक के रूप मे दो भेद है तथा इसी की काल मर्यादा निश्चित की गई है।

इस काल मर्यादा का आधार यह है कि छद्मस्थ की मानसिक एकाग्रता लगातार सिर्फ एक मुहूर्त=४८ मिनट तक ही एक समान रह सकती है।

२१ प्रश्न—सामायिक के उक्त प्रकारो के अलावा क्या अन्य अग भी होते है ?

उत्तर—हाँ, सामायिक आवश्यक अथवा अवश्य करणीय साधना है। साधु और श्रावक दोनो ही इसे प्रतिदिन प्रात और साय दो समय अवश्य ही करते है।
इसके छह अग है—(१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिस्तव (३) वन्दना (गुरु उपासना) (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग (६) प्रत्याख्यान।

२२ प्रश्न—इनके यही नाम है या शास्त्रो मे अन्य नाम भी मिलते है ?
उत्तर—अनुयोग द्वार सूत्र मे इनके गुणनिष्पन्न नाम भी दिये गये है। वहाँ सामायिक का नाम सावद्ययोग विरति, चतुर्विंशतिस्तव का उत्कीर्तन, वन्दना का गुणवत्प्रतिपत्ति, प्रतिक्रमण का स्खलित

निन्दना, कायोत्सर्ग का व्रण चिकित्सा और प्रत्याख्यान का गुण-धारण नाम दिया गया है।

२३ क्या इन छहो अगो के क्रम का कोई आधार भी है ?

उत्तर—यह छहो अग बहुत ही सोच-समझकर रचे गये हैं। इनके इस क्रम का बहुत ही महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक आधार है।

प्रथम अग है– समता अथवा सावद्ययोग विरति। जब तक मनुष्य पापकर्मो को बुरा नही समझेगा तब तक उन्हे छोडने को तैयार भी नही होगा। इसीलिए सामायिक साधना की पृष्ठभूमि है सावद्ययोग विरति।

सावद्ययोग विरति द्वारा जब मनोभूमि तैयार हो जाती है तभी वह समता के सर्वोच्च साधक वीतराग अर्हन्त देवो की स्तुति करने मे सक्षम हो पाता है। इसीलिए सामायिक के उपरान्त चतुर्विशति-स्तव का क्रम है।

सद्‌गुणो को हृदयगम करने के उपरान्त ही साधक के हृदय मे नम्रता और भक्तिभावना का उद्रेक होता है। तभी अर्हन्तो का स्वरूप बताने वाले गुरुदेव के प्रति उसके हृदय मे भक्ति का सागर उमडता है। इसीलिए तीसरा क्रम 'गुरु वन्दना' का है।

वन्दना से उसकी मनोभूमि मे आर्द्रता आ जाती है। वह अपने दोषो को पहचानने लगता है और उन दोषो की आलोचना सरल हृदय से कर सकता है। इसी कारण चौथा आवश्यक 'प्रतिक्रमण' रखा गया है।

प्रतिक्रमण अथवा दोषो की आलोचना से साधक की चित्तभूमि स्वच्छ और निर्दोष हो जाती है और वह कायोत्सर्ग द्वारा मन की एकाग्रता, चित्तवृत्तियो को स्थिर करने मे सक्षम बन जाता है। इसी कारण पाँचवे क्रम मे 'कायोत्सर्ग' रखा गया है।

कही वे आलोचना किये हुए दोष पुन चित्त मे प्रवेश न कर जायें, इसलिए भविष्य के लिए साधक प्रत्याख्यान करता है, वह भविष्य के लिए उन पिछले दोषो का त्याग तो करता ही है, साथ ही अन्य नियम भी ग्रहण करता है। इसी कारण छठवाँ अथवा अतिम आवश्यक 'प्रत्याख्यान' है।

इस प्रकार आवश्यक के इन छहो अगो का क्रम बहुत ही मनोवैज्ञानिक है। इसे हम अध्यात्म विज्ञान कह सकते हैं।

२३ प्रश्न—सामायिक सूत्र का प्रथम सूत्र नमुक्कार मन्त्र है। तो इस विषय मे प्रश्न यह है कि कोई राम जपता है, कोई रहीम का नाम लेता है, कोई ॐ का जाप करता है तो कोई गायत्री मन्त्र जपता है, कोई कलमा पढता है और हम जैन लोग नमुस्कार मन्त्र का जाप करते है—इनमे से अच्छा कौन है ?

उत्तर—यह तो अपनी-अपनी श्रद्धा की बात है, जिसकी जिस पर श्रद्धा होती है, वह उसी मन्त्र का जाप करता है।

२४ प्रश्न श्रद्धा की बात तो है ही, पर मेरा प्रश्न तो मन्त्र शास्त्र की दृष्टि से है। इस दृष्टि से कौन सा मन्त्र अधिक प्रभावशाली है ?

उत्तर—मन्त्र शास्त्र की दृष्टि से तो नमुक्कार मन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योकि इसमे आनुनासिक वर्णो और महाप्राण ध्वनियो की प्रचुरता है।

२५ प्रश्न—आध्यात्मिक दृष्टि से भी बताइये।

उत्तर—आध्यात्मिक दृष्टि से भी नमुक्कार मन्त्र श्रेष्ठ है। क्योकि अध्यात्म का प्रारम्भ ही वन्दना से होता है, वन्दना यानी विनय-भाव से ही चित्त की शुद्धि होती है और तभी आत्मा आध्यात्मिक उन्नति के सोपानो पर चढता है।

२६ प्रश्न—नमुक्कार मन्त्र मे किसकी वन्दना की गई है ?

उत्तर—नमुक्कार मन्त्र मे पाँच पद है। उनमे से पहले दो पदो मे देव-पद की—वीतराग अरिहत देव और शाश्वत सुख के धाम मुक्ति मे विराजित सिद्ध भगवन्तो की वन्दना है। शेष तीन पदो मे मुक्ति के साधक—आचार्य, उपाध्याय और साधुओ को वदना की गई है। इस प्रकार नवकार मन्त्र के पाँच पदो मे प्रथम दो देव पद है और शेष तीन गुरुपद है।

२७ प्रश्न—आपने देव पद मे अरिहत और सिद्ध दो की गणना की तो जब ये दोनो ही देव है तो इनमे अन्तर क्या है ?

उत्तर—अरिहन्त भगवान शरीर सहित है और सिद्ध भगवन्त अशरीरी है तथा अरिहत के अभी चार अघातिया कर्म शेष है और सिद्ध सभी कर्मो से रहित है। ये दो प्रमुख भेद है।

इसके अतिरिक्त सर्वज्ञता और वीतरागता की दृष्टि से इन दोनो देव-पदो मे कोई अन्तर नही है।

२८ प्रश्न—वन्दना तीन बार ही क्यो की जाती है, इससे अधिक या कम बार क्यो नही की जाती ?

उत्तर– वन्दनीय गुण तीन है– दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इसलिए वदना भी तीन बार ही की जाती है।

२९ प्रश्न—वन्दना की विधि क्या है? किस प्रकार वन्दना करनी चाहिए?

उत्तर—वदना पाँच अग नमाकर करनी चाहिए। यह पाँच अग है—दो घुटने, दो हाथ और एक सिर।

३० प्रश्न—सामायिक के पूर्व ५-६ पाठ वोलकर चतुर्विंशतिस्तव किया जाता है। इसकी क्या जरूरत है? इतना समय सामायिक मे ही क्यो न बिताया जाय?

उत्तर—जैसे पौष्टिक औषधि खाने से पहले कोष्ठ शुद्धि और बीज बोने से पहले क्षेत्र शुद्धि आवश्यक है, उसके बिना पौष्टिक औषधि बलवीर्य नही बढा सकती और बीज से लहलहाती फसल नही ली जा सकती। उसी प्रकार सामायिक द्वारा आत्मिक शक्ति बढाने के लिए चित्तशुद्धि आवश्यक है। इन पाठो से सासारिक वासना को भुलाकर मन को पाप-भार से हल्का बनाया जाता है। अत इन पाठो को व्यर्थ नही समझना चाहिए।

३१ प्रश्न—सामायिक ग्रहण करने के बाद बॉया घुटना ऊँचा रखकर भगवान की स्तुति की जाती है, इसमे कोई विशेष दृष्टिकोण है अथवा केवल परम्परा का निर्वाह मात्र है।

उत्तर—स्तुति के समय विनम्रता रखना आवश्यक है। जब दाहिने घुटने के बल बैठकर बाया घुटना खडा रखा जाता है तब सहज ही मेरुदण्ड झुकने से शरीर भी झुक जाता है और फिर घुटने पर दोनो हाथ जोडकर रखने से पूर्ण विनय प्रगट हो जाता है। अत इस आसन को विनय का आसन माना गया है।

यही इस आसन का दृष्टिकोण है, परम्परा का निर्वाह मात्र ही यह नही है।

३२ प्रश्न—सामायिक सूत्र के सभी पाठ प्राकृत भाषा मे हैं। यह भाषा आधुनिक युग मे प्रचलित नही है। अत इसको बोलने मे उच्चारण सम्बन्धी अशुद्धियाँ होने की भी सम्भावना है तथा बहुत लोगो को अर्थ समझने मे भी कठिनाई होती है। फिर क्यो न इन पाठो का आज की राष्ट्रभाषा हिन्दी मे अनुवाद करके प्रचलित कर दिया जाय, इससे सभी को सरलता और सुविधा रहेगी।

उत्तर—जहाँ तक सुविधा का प्रश्न है तो आध्यात्मिक साधना मे सुविधा नही, शुद्धता अपेक्षित होती है ।

उच्चारण सबधी दोष अभ्यास से दूर किये जा सकते हैं ।

अर्थ समझने की समस्या गुरुदेव से पूछकर हल की जा सकती है अथवा इन पाठो का अर्थ पुस्तको से भी समझा जा सकता है, उसमे कोई कठिनाई नही है ।

लेकिन मूल प्राकृत पाठो का हिन्दी अनुवाद प्रचलित करना सर्वथा अनुचित है । प्रथम तो इससे आगम की हीलना होती है । दूसरे, इन पाठो की गरिमा भी कम होती है । तीसरी, एक विचित्र दृश्य उपस्थित हो जायेगा ।

कल्पना करिए, एक ही उपाश्रय मे भारत के विभिन्न प्रान्तो के व्यक्ति सामायिक कर रहे ह । एक हिन्दी अनुवाद बोल रहा है तो दूसरा गुजराती भाषा मे, तीसरा तमिल मे उच्चारण कर रहा है तो चौथा तेलगू या मलयालम मे । इसी तरह पजाबी, बगाली, मराठी आदि भाषाओ मे बोलने वाले भी होगे तो कोई अग्रेजीदा अग्रेजी झाड रहा होगा ।

तब कैसा विचित्र दृश्य उपस्थित होगा, क्या साधना की एकरूपता रह सकेगी ? सभव ही नही है । फिर सबसे बडी समस्या यह पैदा होगी कि कितनी भाषाओ मे अनुवाद किया जाय ।

अत निर्दोष और निरतिचार सामायिक साधना के लिए मूल पाठो का प्राकृत मे ही रहना उचित है ।

३२ प्रश्न—अभी आपने निरतिचार शब्द का प्रयोग किया तो क्या सामायिक के अतिचार भी है ? अतिचार हैं तो कितने हैं ? उनके बारे मे भी बताइये ।

उत्तर—सामायिक के पाँच अतिचार है—

(१) मन दुष्प्रणिधान—सामायिक मे मन के भाव सासारिक प्रपचो की उधेड बुन मे लगे रहे ।

(२) वचन दुष्प्रणिधान—सामायिक मे कर्कश, कठोर वचनो का प्रयोग ।

(३) कायदुष्प्रणिधान—बार-बार आसन बदलना, सहारा लेना, शरीर खुजलाना, मैल उतारना आदि ।

(४) स्मृत्यकरण—सामायिक के समय की स्मृति (ध्यान) न रखना, समय पर न करना, सामायिक के पाठो को भूल जाना आदि ।

(५) अनवस्थितता—सामायिक को स्थिर होकर न करना, समय से पहले ही पार लेना, निश्चित विधि का अनुसरण न करना आदि ।

३४ प्रश्न—सामायिक के दोष कितने है ?

उत्तर—सामायिक के ३२ दोप है । दस मन के, दस वचन के और बारह काया के ।

३५ मन के दस दोप कौन-कौन से है ?

उत्तर—मन के दस दोष यह हैं—

(१) उचित अनुचित का विवेक न रखना ।

(२) यश कीर्ति की इच्छा से सामायिक करना ।

(३) भौतिक वैभव के लाभ की इच्छा से सामायिक करना ।

(४) गर्व का भाव मन मे आना ।

(५) लोक लाज अथवा राजादि के भय, अपराधमुक्त होने की भावना से सामायिक करना ।

(६) भौतिक पदार्थो की प्राप्ति का निदान करना ।

(७) सामायिक के फल मे सशय करना ।

(८) सामायिक मे क्रोध मान आदि करना, लडाई-झगडा करना ।

(९) गुरु के प्रति अविनय का भाव रखना

(१०) किसी के दबाव से बिना उत्साह के सामायिक करना , अबहुमान नाम का दोप है ।

३६ प्रश्न—वचन के दोष बतावे ।

उत्तर—वचन के भी दस दोष है—

(१) कुत्सित वचनो का प्रयोग ।

(२) बिना विचारे सहसा असत्य बोलना ।

(३) काम वृद्धि कारक अश्लील गीत गाना ।

(४) पाठ को सक्षिप्त करके बोल देना ।

(५) कलह उत्पन्न करने वाले वचनो का प्रयोग ।

(६) स्त्री कथा, राजकथा, भोजनकथा, देशकथा आदि विकथा करना अथवा कहना ।

(७) हँसी मजाक करना, व्यग करना ।

(८) सामायिक के पाठ को अशुद्ध बोलना ।

(९) असावधानीपूर्वक वचन बोलना ।

(१०) सामायिक का पाठ गुनगुन करते हुए बोलना, स्पष्ट न बोलना।

३७ प्रश्न—काया के दोषो का वर्णन करिए।

उत्तर—(१) गुरु के समक्ष अविनय मुद्रा मे बैठना

(२) बार-बार आसन बदलना।

(३) स्वय सावद्य क्रियाएँ करना अथवा दूसरो से करवाना।

(४) बिना विशेष कारण के दीवार आदि का सहारा लेना।

(५) निष्प्रयोजन ही हाथ-पैरो को फैलाना-सिकोडना।

(६) दृष्टि को चपल रखना, बार-बार इधर-उधर देखना।

(७) ऐसे आसन से बैठना, जिससे आलस्य आवे।

(८) हाथ-पैरो की उँगलियो को मोडना, चटकाना।

(९) शरीर पर से मैल उतारना।

(१०) शोकग्रस्त होकर बैठना।

(११) ऊँघना या सो जाना।

(१२) दूसरो से वैयावृत्य यानी सेवा कराना।

यह काया के बारह दोष है।

इस प्रकार दस मन के, दस वचन के और बारह काया के कुल बत्तीस दोष है।

सामायिक निर्दोष और निरतिचार करनी चाहिए। ऐसी सामायिक का बहुत फल होता है। यहाँ तक कहा गया है कि बिना सामायिक साधना के भूतकाल मे कोई भी मुक्त नही हुआ, वर्तमान मे भी नही हो रहा है और भविष्य मे भी नही होगा।

स्वाध्याय सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

३८ प्रश्न—जिस प्रकार इजीनियरी, डाक्टरी, वकालत आदि पढने से धन, पद आदि का प्रत्यक्ष लाभ होता है, ऐसा कोई लाभ धार्मिक ग्रन्थो के पठन-पाठन से तो होता नही फिर उनका स्वाध्याय क्यो किया जाय ?

उत्तर—यद्यपि धन, पद, सत्ता आदि का लाभ तो धार्मिक ग्रथो के पढने से नही होता किन्तु यह समझना भूल है कि इनसे कोई प्रत्यक्ष या व्यावहारिक लाभ नही होता।

३९ प्रश्न—तो ऐसे प्रत्यक्ष लाभ बताइये।

उत्तर—सबसे बडा लाभ तो आत्मिक शान्ति का है। व्यावहारिक

(५) अनवस्थितता—सामायिक को स्थिर होकर न करना, समय से पहले ही पार लेना, निश्चित विधि का अनुमरण न करना आदि ।

३४ प्रश्न—सामायिक के दोप कितने है ?

उत्तर—सामायिक के ३२ दोप हैं । दस मन के, दस वचन के और बारह काया के ।

३५ मन के दस दोप कौन-कौन से हैं ?

उत्तर—मन के दस दोष यह हैं—

(१) उचित अनुचित का विवेक न रखना ।

(२) यश कीर्ति की इच्छा मे सामायिक करना ।

(३) भौतिक वैभव के न्लाभ की इच्छा से सामायिक करना ।

(४) गर्व का भाव मन मे आना ।

(५) लोक लाज अथवा राजादि के भय, अपराधमुक्त होने की भावना से सामायिक करना ।

(६) भौतिक पदार्थो की प्राप्ति का निदान करना ।

(७) सामायिक के फल मे सशय करना ।

(८) सामायिक मे क्रोध मान आदि करना, लडाई-झगडा करना ।

(९) गुरु के प्रति अविनय का भाव रखना

(१०) किमी के दबाव से विना उत्साह के सामायिक करना , अबहुमान नाम का दोष है ।

३६ प्रश्न—वचन के दोष बतावे ।

उत्तर—वचन के भी दस दोष है—

(१) कुत्सित वचनो का प्रयोग ।

(२) विना विचारे सहसा असत्य बोलना ।

(३) काम वृद्धि कारक अश्लील गीत गाना ।

(४) पाठ को सक्षिप्त करके बोल देना ।

(५) कलह उत्पन्न करने वाले वचनो का प्रयोग ।

(६) स्त्री कथा, राजकथा, भोजनकथा, देशकथा आदि विकथा करना अथवा कहना ।

(७) हँसी मजाक करना, व्यग करना ।

(८) सामायिक के पाठ को अशुद्ध बोलना ।

(९) असावधानीपूर्वक वचन बोलना ।

(१०) सामायिक का पाठ गुनगुन करते हुए बोलना, स्पष्ट न बोलना ।

३७ प्रश्न—काया के दोषो का वर्णन करिए ।

उत्तर—(१) गुरु के समक्ष अविनय मुद्रा मे बैठना

(२) बार-बार आसन बदलना ।

(३) स्वय सावद्य क्रियाएँ करना अथवा दूसरो से करवाना ।

(४) बिना विशेष कारण के दीवार आदि का सहारा लेना ।

(५) निष्प्रयोजन ही हाथ-पैरो को फैलाना-सिकोडना ।

(६) दृष्टि को चपल रखना, बार-बार इधर-उधर देखना ।

(७) ऐसे आसन से बैठना, जिससे आलस्य आवे ।

(८) हाथ-पैरो की उँगलियो को मोडना, चटकाना ।

(९) शरीर पर से मैल उतारना ।

(१०) शोकग्रस्त होकर बैठना ।

(११) ऊँघना या सो जाना ।

(१२) दूसरो से वैयावृत्य यानी सेवा कराना ।

यह काया के बारह दोष है ।

इस प्रकार दस मन के, दस वचन के और बारह काया के कुल बत्तीस दोष है ।

सामायिक निर्दोष और निरतिचार करनी चाहिए। ऐसी सामायिक का बहुत फल होता है। यहाँ तक कहा गया है कि बिना सामायिक साधना के भूतकाल मे कोई भी मुक्त नही हुआ, वर्तमान मे भी नहीं हो रहा है और भविष्य मे भी नही होगा ।

स्वाध्याय सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

३८ प्रश्न—जिस प्रकार इजीनियरी, डाक्टरी, वकालत आदि पढने से धन, पद आदि का प्रत्यक्ष लाभ होता है, ऐसा कोई लाभ धार्मिक ग्रन्थो के पठन-पाठन से तो होता नहीं फिर उनका स्वाध्याय क्यो किया जाय ?

उत्तर—यद्यपि धन, पद, सत्ता आदि का लाभ तो धार्मिक ग्रथो के पढने से नही होता किन्तु यह समझना भूल है कि इनसे कोई प्रत्यक्ष या व्यावहारिक लाभ नही होता ।

३९ प्रश्न—तो ऐसे प्रत्यक्ष लाभ बताइये ।

उत्तर—सबसे बडा लाभ तो आत्मिक शान्ति का है। व्यावहारिक

उत्तर— सत् शास्त्रों के पठन और उन पर चिन्तन-मनन से।

४३ प्रश्न—सत्शास्त्र किसे माना जाय ?

उत्तर—जो वीतराग सर्वज्ञ भगवान की वाणी है जैसे अंग आगम और जो उस वाणी का अनुसरण करके लिखे गये हैं वे सभी शास्त्र।

४४ प्रश्न—ऐसे शास्त्रों को पढ़ने से क्या लाभ है ?

उत्तर—वही जो अंधेरे में दीपक से होता है। जिस प्रकार टार्च अंधेरे में भी उजाला करके यात्री का पथ प्रदर्शित कर उसे ठोकर नहीं लगने देता, राह के कांटे कंकर नहीं चुभने देता, उसी प्रकार सत्शास्त्रों का स्वाध्याय भी मानव के जीवन को आलोक से भर देता है, स्वाध्याय से उसे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है।

४५ प्रश्न—साहित्य में तो ज्ञान को रूखा विषय कहा गया है, उससे मनुष्य को आनन्द की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

उत्तर—ज्ञान रूखा विषय तभी तक रहता है जब तक बाहरी सतह पर ही रहे, यानी ज्ञान केवल तोता रटन्त मात्र हो। किन्तु जब वह आत्मा की गहराइयों तक पहुँच जाता है तो आत्मा स्वयं सच्चिदानन्दघन है, उसका स्पर्श होते ही स्वाध्यायी को अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। उसकी प्रसुप्त आत्मिक शक्तियाँ जाग्रत हो जाती है।

४६ प्रश्न—स्वाध्याय से आत्मिक शक्तियाँ कैसे जागृत होती हैं ?

उत्तर—एक उदाहरण से समझें। जैसे माचिस की तीली में अग्नि विद्यमान तो है, किन्तु छिपी हुई है। वह छिपी हुई अग्नि घर्षण से प्रगट हो जाती है, तीली जल उठती है। इसी प्रकार निरन्तर स्वाध्याय के घर्षण से आत्मिक शक्तियाँ भी प्रगट हो जाती हैं और आत्मा स्वाध्याय से आत्म-ध्यान की स्थिति में पहुँच जाता है।

४७ प्रश्न—ध्यान तो चित्त की एकाग्रता को कहते है, जबकि स्वाध्याय में चित्त चंचल रहता है।

उत्तर—जब स्वाध्याय गहरा होता है और किसी एक विषय पर चिन्तन चलने लगता है तो चित्त की वृत्तियाँ स्थिर हो जाती हैं, उनमें एकतानता आ जाती है, इसी स्थिर स्थिति का नाम ध्यान है। इस प्रकार स्वाध्याय से ध्यान की प्राप्ति होती है और यहां तक कि समाधि भी प्राप्त होती है।

या लौकिक विद्याओ का अध्ययन जहाँ महत्वाकाक्षा जगाकर व्यक्ति को अशात बना देता है, वहाँ धार्मिक ग्रन्थो का स्वाध्याय इच्छाओ को कम करके व्यक्ति के जीवन को शान्त बनाता है और इसके साथ ही समाज मे अराजकता की स्थिति समाप्त करके सुव्यवस्था की स्थापना मे सहयोगी बनता है।

दूसरा लाभ यह है कि मानव अपनी वर्तमान स्थिति और सफलता असफलता के वास्तविक कारणो (पूर्वजन्म मे किये हुए कर्म) की जानकारी प्राप्त कर लेता है। इससे वह हर परिस्थिति मे सन्तुष्ट रह सकता है।

अपने धर्म और धर्मगुरुओ, तीर्थंकरो आदि के बारे मे जानने से उसमे अपने प्रति स्वाभिमान जागता है।

ऐसे अनेक व्यावहारिक लाभ धार्मिक ग्रन्थो के स्वाध्याय से प्राप्त होते हैं। इसके अलावा आध्यात्मिक और सास्कृतिक लाभ तो होते ही है।

इसके अतिरिक्त पठन-पाठन और स्वाध्याय मे अन्तर है।

४० प्रश्न—पठन-पाठन और स्वाध्याय मे क्या अन्तर है ? आप स्वाध्याय किसे कहेगे ?

उत्तर—पठन-पाठन तो सामान्यत किसी भी विद्या, कला, पुस्तक आदि को पढने या पढाने को कहा जाता है किन्तु स्वाध्याय का विशिष्ट अभिप्राय है।

स्वाध्याय शब्द की व्युत्पत्ति निरुक्तिकारो ने तीन प्रकार से की है—(१) स्वेन अध्ययन—अपने द्वारा अपना अध्ययन, (२) सुष्ठु अध्ययन—भली भाँति मर्यादा के साथ अध्ययन और (३) स्वस्य अध्ययन—स्वय अपना अध्ययन।

४१ प्रश्न—आपकी यह रहस्य भरी भाषा समझ मे नही आई। अपने द्वारा अपना अध्ययन कैसे किया जा सकता है और स्वय अपना ही अध्ययन किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर—भाषा मे कोई रहस्य नही है। इन दोनो का सीधा सा अभिप्राय है आत्मा स्वय अपना ही अध्ययन करे, अपने को जाने और अपना अनुभव करे। इसे आप अग्रेजी मे Self knowledge और Self realisation भी कह सकते है।

४२ प्रश्न – स्व-अध्ययन अथवा स्वाध्याय कैसे हो सकता है ?

उत्तर—सत् शास्त्रो के पठन और उन पर चिन्तन-मनन से।

४३ प्रश्न—सत्शास्त्र किसे माना जाय ?

उत्तर—जो वीतराग सर्वज्ञ भगवान की वाणी है जैसे अग आगम और जो उस वाणी का अनुसरण करके लिखे गये हैं वे सभी शास्त्र।

४४ प्रश्न—ऐसे शास्त्रो को पढने से क्या लाभ है ?

उत्तर—वही जो अँधेरे मे दीपक से होता है। जिस प्रकार टार्च अँधेरे मे भी उजाला करके यात्री का पथ प्रदर्शित कर उसे ठाकर नही लगने देता, राह के काँटे ककर नही चुभने देता, उसी प्रकार सत्शास्त्रो का स्वाध्याय भी मानव के जीवन को आलोक से भर देता है, स्वाध्याय मे उसे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है।

४५ प्रश्न—साहित्य मे तो ज्ञान को रूखा विषय कहा गया है, इससे मनुष्य को आनन्द की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

उत्तर—ज्ञान रूखा विषय तभी तक रहता है जब तक बाहरी सतह पर ही रहे, यानी ज्ञान केवल तोता रटन्त मात्र हो। किन्तु जब वह आत्मा की गहराइयो तक पहुँच जाता है तो आत्मा स्वय सच्चिदानन्दघन है, उसका स्पर्श होते ही स्वाध्यायी को अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। उसकी प्रसुप्त आत्मिक शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं।

४६ प्रश्न—स्वाध्याय से आत्मिक शक्तियाँ कैसे जागृत होती हैं ?

उत्तर—एक उदाहरण से समझे। जैसे माचिस की तीली मे अग्नि विद्यमान तो है, किन्तु छिपी हुई है। वह छिपी हुई अग्नि घर्षण से प्रगट हो जाती है, तीली जल उठती है। इसी प्रकार निरन्तर स्वाध्याय के घर्षण से आत्मिक शक्तियाँ भी प्रगट हो जाती है और आत्मा स्वाध्याय से आत्म-ध्यान की स्थिति मे पहुँच जाता है।

४७ प्रश्न—ध्यान तो चित्त की एकाग्रता को कहते है, जबकि स्वाध्याय मे चित्त चचल रहता है।

उत्तर—जब स्वाध्याय गहरा होता है और किसी एक विषय पर चिन्तन चलने लगता है तो चित्त की वृत्तियाँ स्थिर हो जाती हैं, उनमे एकतानता आ जाती है, इसी स्थिर स्थिति का नाम ध्यान है। इस प्रकार स्वाध्याय से ध्यान की प्राप्ति होती है और यहाँ तक कि समाधि भी प्राप्त होती है।

४८ प्रश्न—स्वाध्याय से समाधि कैसे प्राप्त होती है ? इस बात का प्रमाण किस ग्रन्थ मे उपलब्ध होता है ।

उत्तर—भगवान महावीर ने चार प्रकार की समाधि बताई है। इसका उल्लेख दशवैकालिक सूत्र (६/४/३) मे है । उसमे से एक श्रुत-समाधि भी है ।

४९ प्रश्न—तब तो स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। इसके कितने भेद है ?

उत्तर—स्वाध्याय के पॉच भेद है—

(१) वाचना—गुरुदेव के मुह से सूत्र पाठ सुनना, ज्यो की त्यो ग्रहण करना, जैसा उच्चारण वे करे, वैसा ही उच्चारण करना हीनाक्षर आदि दोष बिल्कुल भी न लगाना ।

(२) पृच्छना—गुरुदेव से पूछकर, अच्छी तरह ऊहापोह करके अर्थ का निश्चय कर लेना ।

(३) परिवर्तना—सूत्र को पुन पुन स्मरण करना—दोहराना, परावर्तन से सूत्र विस्मृत नही होता ।

(४) अनुप्रेक्षा—ग्रहण किये हुए सूत्र पर गहराई मे चिन्तन करना ।

(५) धर्मकथा—जब सूत्र हृदयगम हो जाये तो उस पर प्रवचन करना, अन्य लोगो को बताना ।

५० प्रश्न—यदि धर्मकथा न की जाय तो स्वाध्यायी को क्या हानि है ? वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा से उसे तो सूत्र और उसका अर्थ हृदयगम हो ही चुका है ।

उत्तर—धर्मकथा न करने से धर्म शासन को भी हानि है और स्वय स्वाध्यायी को भी हानि है । भरी सभा मे धर्मकथा करने से स्वाध्यायी का स्वय का ज्ञान मजता है, बोलते समय उसके मस्तिष्क मे नई-नई कल्पनाएँ आती है और बुद्धि मे नये-नये उन्मेष जगते हैं । धर्म शासन की हानि यह है कि स्वाध्यायी ने जितना सीखा, जाना है वह सब उसके साथ ही चला जायेगा तो श्रुतज्ञान की परम्परा आगे कैसे चलेगी ? भव्य जीवो का उपकार कैसे होगा ? धर्म का मार्ग आगे कैसे चलेगा ? इसी दृष्टिकोण से तीर्थंकर भगवान भी धर्मकथा करते हैं ।

५१ प्रश्न आपने अभी कहा था कि उच्चारण निर्दोष होना चाहिए तो स्वाध्याय के अथवा सूत्रपाठ के उच्चारण के कितने दोष हैं, बताये ।

उत्तर—यो तो उच्चारण के अनेक दोप हो सकते हैं किन्तु इन सभी दोषो को १४ भागो मे वर्गीकृत कर दिया गया है। वे १४ दोष हैं—

(१) वाइद्ध—सूत्र के अक्षर उलट-पुलट पढना या बोलना उदाहरणार्थ—'पहीण-जर-मरणा' को 'पीहर जा र मरणा' बोलना।

(२) वच्चामेलिय—सूत्रो को एक-दूसरे मे मिला देना, अयुक्त स्थान मे विराम लेना, युक्त स्थान मे विराम न लेना।

(३) हीणक्खर—कम अक्षर पढना

(४) अच्चक्खर—अधिक अक्षर पढना

(५) पयहीण—पदहीन पढना।

(६) विणयहीण—विनय रहित पढना।

(७) जोगहीण—मन-वचन-काया को एकाग्र न करके पढना, अथवा उपयोग रहित होकर पढना।

(८) घोसहीण—स्वर और व्यजन का उचित रूप से ध्वनि सहित उच्चारण न पढना।

(९) सुट्ठुदिण्ण—शक्ति से अधिक यानी हृदयगम करने की क्षमता से अधिक सूत्र पढना।

(१०) दुट्ठुपडिच्छिय—सूत्र को बुरे अथवा कलुषित भाव से पढना, ग्रहण करना, बोलना या गुरुदेव से पूछना।

(११) अकाले कओ सज्झाओ—जिस सूत्र का जो स्वाध्यायकाल नही है, उस काल मे उस सूत्र का स्वाध्याय करना।

(१२) काले न कओ सज्झाओ—जिस सूत्र का जो स्वाध्याय काल है, उस काल मे उस सूत्र का स्वाध्याय न करना।

(१३) असज्झाइये सज्झाइय—अस्वाध्याय के कारण (बत्तीस प्रकार के अस्वाध्याय) विद्यमान रहने पर भी स्वाध्याय करना।

(१४) सज्झाइये न सज्झाइय—अस्वाध्याय के कारण विद्यमान न हो, फिर भी स्वाध्याय न करना।

स्वाध्याय करते समय यह १४ दोष नही लगने देना चाहिए।

५२ प्रश्न—ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति बहुत स्वाध्याय करता है, रात-दिन रटता रहता है, फिर भी उसे याद नही होता, उसका सारा श्रम निष्फल जाता है। इसका क्या कारण है ?

उत्तर—इसके कई कारण हैं। उनमे से कुछ निम्न है—

(१) निन्हवता—देव, गुरु, धर्म का अवर्णवाद बोलने से—यानी इनमे जो दोष नही हैं, वे दोष लगाना, जैसे—

४८ प्रश्न—स्वाध्याय से समाधि कैसे प्राप्त होती है ? इस बात का प्रमाण किस ग्रन्थ मे उपलब्ध होता है।

उत्तर—भगवान महावीर ने चार प्रकार की समाधि बताई है। इसका उल्लेख दशवैकालिक सूत्र (९/४/३) मे है। उसमे से एक श्रुत-समाधि भी है।

४९ प्रश्न—तब तो स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। इसके कितने भेद है ?

उत्तर—स्वाध्याय के पाँच भेद है—

(१) वाचना—गुरुदेव के मुह से सूत्र पाठ सुनना, ज्यो की त्यो ग्रहण करना, जैसा उच्चारण वे करे, वैसा ही उच्चारण करना हीनाक्षर आदि दोष बिल्कुल भी न लगाना।

(२) पृच्छना—गुरुदेव से पूछकर, अच्छी तरह ऊहापोह करके अर्थ का निश्चय कर लेना।

(३) परिवर्तना—सूत्र को पुन पुन स्मरण करना—दोहराना, परा-वर्तन से सूत्र विस्मृत नही होता।

(४) अनुप्रेक्षा—ग्रहण किये हुए सूत्र पर गहराई से चिन्तन करना।

(५) धर्मकथा—जब सूत्र हृदयगम हो जाये तो उस पर प्रवचन करना, अन्य लोगो को बताना।

५० प्रश्न—यदि धर्मकथा न की जाय तो स्वाध्यायी को क्या हानि है ? वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा से उसे तो सूत्र और उसका अर्थ हृदयगम हो ही चुका है।

उत्तर—धर्मकथा न करने से धर्म शासन को भी हानि है और स्वय स्वाध्यायी को भी हानि है। भरी सभा मे धर्मकथा करने से स्वाध्यायी का स्वय का ज्ञान मजता है, बोलते समय उसके मस्तिष्क मे नई-नई कल्पनाएँ आती है और बुद्धि मे नये-नये उन्मेष जगते हैं। धर्म शासन की हानि यह है कि स्वाध्यायी ने जितना सीखा, जाना है वह सब उसके साथ ही चला जायेगा तो श्रुतज्ञान की परम्परा आगे कैसे चलेगी ? भव्य जीवो का उपकार कैसे होगा ? धर्म का मार्ग आगे कैसे चलेगा ? इसी दृष्टिकोण से तीर्थंकर भगवान भी धर्मकथा करते हैं।

५१ प्रश्न आपने अभी कहा था कि उच्चारण निर्दोष होना चाहिए तो स्वाध्याय के अथवा सूत्रपाठ के उच्चारण के कितने दोष हैं, बताये।

उत्तर—यों तो उच्चारण के अनेक दोष हो सकते हैं किन्तु इन सभी दोषो को १४ भागो मे वर्गीकृत कर दिया गया है। वे १४ दोष हैं—

(१) **वाइद्ध**—सूत्र के अक्षर उलट-पुलट पढना या बोलना उदाहरणार्थ—'पहीण-जर-मरणा' को 'पीहर जा र मरणा' बोलना।

(२) **वच्चामेलिय**—सूत्रो को एक-दूसरे मे मिला देना, अयुक्त स्थान मे विराम लेना, युक्त स्थान मे विराम न लेना।

(३) **हीणक्खर**—कम अक्षर पढना

(४) **अच्चक्खर**—अधिक अक्षर पढना

(५) **पयहीण**—पदहीन पढना।

(६) **विणयहीण**—विनय रहित पढना।

(७) **जोगहीण**—मन-वचन-काया को एकाग्र न करके पढना, अथवा उपयोग रहित होकर पढना।

(८) **घोसहीण**—स्वर और व्यजन का उचित रूप से ध्वनि सहित उच्चारण न पढना।

(९) **सुट्ठुदिण्ण**—शक्ति से अधिक यानी हृदयगम करने की क्षमता से अधिक सूत्र पढना।

(१०) **दुट्ठुपडिच्छिय**—सूत्र को बुरे अथवा कलुषित भाव से पढना, ग्रहण करना, बोलना या गुरुदेव से पूछना।

(११) **अकाले कओ सज्झाओ**—जिस सूत्र का जो स्वाध्यायकाल नही है, उस काल मे उस सूत्र का स्वाध्याय करना।

(१२) **काले न कओ सज्झाओ**—जिस सूत्र का जो स्वाध्याय काल है, उस काल मे उस सूत्र का स्वाध्याय न करना।

(१३) **असज्झाइये सज्झाइय**—अस्वाध्याय के कारण (बत्तीस प्रकार के अस्वाध्याय) विद्यमान रहने पर भी स्वाध्याय करना।

(१४) **सज्झाइये न सज्झाइय**—अस्वाध्याय के कारण विद्यमान न हो, फिर भी स्वाध्याय न करना।

स्वाध्याय करते समय यह १४ दोष नही लगने देना चाहिए।

५२ प्रश्न—ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति बहुत स्वाध्याय करता है, रात-दिन रटता रहता है, फिर भी उसे याद नही होता, उसका सारा श्रम निष्फल जाता है। इसका क्या कारण है?

उत्तर—इसके कई कारण हैं। उनमे से कुछ निम्न है—

(१) निन्हवता—देव, गुरु, धर्म का अवर्णवाद बोलने से—यानी इनमे जो दोष नही हैं, वे दोष लगाना, जैसे—

अरिहन्त भगवान को असर्वज्ञ बताना, वीतरागी देवो को सराग कहना, आदि ।
शुद्धाचारी श्रमणो को भ्रष्ट बताना, उनके चरित्र मे व्यर्थ के दोष लगाकर उनकी निन्दा करना ।
अरिहतप्रणीत सिद्धान्तो के अपनी बुद्धि से मनमाने और ऊटपटाग अर्थ लगाना ।
इस प्रकार देव-गुरु-धर्म की निन्दा करना ।
(२) ज्ञान और ज्ञानी की अशातना करना ।
(३) ज्ञान के उपकरण यथा—पुस्तक आदि को छिपाकर इधर-उधर रख देना ।
(४) ज्ञानी पुरुषो से ईर्ष्या करना ।
(५) ज्ञान और ज्ञानी पुरुषो की विनय न करना ।
जो व्यक्ति इस प्रकार के कार्य करता है, वह कितना भी परिश्रम कर ले, सूत्र आदि उसे याद नही हो पाते ।
उसकी बुद्धि अत्यन्त मन्द रहती है ।

५४. प्रश्न—स्वाध्याय मे विशेष आनन्द और सफलता तथा उन्नत स्थिति प्राप्त करने के लिए स्वाध्यायी मे कौन-कौन से गुण अपेक्षित है अथवा उसे किन नियमो का पालन करना चाहिए ?
उत्तर—कुछ सामान्य नियम है—
(१) स्थान एव समय की नियमितता—नियमित समय और निश्चित स्थान पर स्वाध्याय किया जाय ।
(२) धैर्य—स्वाध्याय मे शीघ्रता न करे और न यह आशा ही रखे कि पाठ शीघ्र ही याद हो जायेगा, धैर्यपूर्वक स्वाध्याय करे ।
(३) एकाग्रता—मन-वचन-काय को एकाग्र रखे ।
(४) स्वाध्याय का स्थान शात हो, वहाँ कोलाहल न हो। स्थान स्वच्छ और साफ हो, अधिक सजावट न हो ।
(५) नियमितता—स्वाध्याय मे एक दिन का भी अन्तर न पडे, स्वाध्याय प्रतिदिन नियम से करना चाहिए ।
(६) स्वाध्यायी को अपना लक्ष्य आत्मोन्नति रखना चाहिए, विषय-वासना, सासारिक भोग, प्रसिद्धि आदि की इच्छा न करे ।
(७) दृढ विश्वास—यह दृढ विश्वास रखे कि मेरी आत्मोन्नति अवश्य होगी। मेरी आत्मा की निरन्तर उन्नति हो रही है, ऐसी भावना भी रखे ।
इन सामान्य नियमो के पालन से स्वाध्यायी का जीवन चमक उठेगा, उसकी आत्मा अलौकिक आलोक से जगमगा उठेगी । □

स्वाध्यायशील के स्वर्ण सूत्र

जेयावि होइ निव्विज्जे थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
अभिक्खण उल्लवइ अविणीए अवहुस्सुए ॥

प्रश्न—अवहुश्रुत कौन है ?

उत्तर—जिसमे ये छह दोष है—

१ जो विद्याहीन है
२ विद्यावान होकर अभिमानी है
३ सरस आहार आदि का लोलुप है
४ इन्द्रियो पर सयम नही रख सकता
५ जो बार-बार असम्बद्ध बोलता है
६ गुरुजनो का विनय नही करता

—उत्तराध्ययन ११/२

अह पचहि ठाणेहि जेहि सिक्खा न लब्भइ ।
थम्भा कोहा पमाएण रोगेणाऽलस्सएण य ॥

२ इन पाँच कारणो से शिक्षा प्राप्त नही हो सकती—
१ अहकार, २ क्रोध, ३ प्रमाद, ४ रोग और ५ आलस्य

—उत्तराध्ययन ११/३

अह अट्ठहि ठाणेहि सिक्खासीले त्ति वुच्चइ ।
अहस्सिरे सया दते न य मम्ममुदाहरे ।
नासील न विसीले न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥

३ इन आठ गुणो से व्यक्ति शिक्षा शील कहा जाता है—

१ जो हास्य-हसी मजाक न करे
२ जो इन्द्रिय और मन का दमन करे
३ जो दूसरो का मर्म उद्घाटन न करे
४ जो चारित्र से हीन न हो
५ जिसके चरित्र मे कोई दोष या दाग न हो
६ जो रस-लोलुप न हो
७ जो क्रोधी स्वभाव का न हो
८ जो सदा सत्य का आचरण करता है

—उत्तराध्ययन ११/४-५

अरिहन्त भगवान को असर्वज्ञ बताना, वीतरागी देवो को सराग कहना, आदि ।
शुद्धाचारी श्रमणो को भ्रष्ट बताना, उनके चरित्र मे व्यर्थ के दोष लगाकर उनकी निन्दा करना ।
अरिहतप्रणीत सिद्धान्तो के अपनी बुद्धि से मनमाने और ऊटपटाग अर्थ लगाना ।
इस प्रकार देव-गुरु-धर्म की निन्दा करना ।
(२) ज्ञान और ज्ञानी की अशातना करना ।
(३) ज्ञान के उपकरण यथा—पुस्तक आदि को छिपाकर इधर-उधर रख देना ।
(४) ज्ञानी पुरुषो से ईर्ष्या करना ।
(५) ज्ञान और ज्ञानी पुरुषो की विनय न करना ।
जो व्यक्ति इस प्रकार के कार्य करता है, वह कितना भी परिश्रम कर ले, सूत्र आदि उसे याद नही हो पाते ।
उसकी बुद्धि अत्यन्त मन्द रहती है ।

५४. प्रश्न—स्वाध्याय मे विशेष आनन्द और सफलता तथा उन्नत स्थिति प्राप्त करने के लिए स्वाध्यायी मे कौन-कौन से गुण अपेक्षित है अथवा उसे किन नियमो का पालन करना चाहिए ?
उत्तर—कुछ सामान्य नियम है—
(१) स्थान एव समय की नियमितता—नियमित समय और निश्चित स्थान पर स्वाध्याय किया जाय ।
(२) धैर्य—स्वाध्याय मे शीघ्रता न करे और न यह आशा ही रखे कि पाठ शीघ्र ही याद हो जायेगा, धैर्यपूर्वक स्वाध्याय करे ।
(३) एकाग्रता—मन-वचन-काय को एकाग्र रखे ।
(४) स्वाध्याय का स्थान शात हो, वहाँ कोलाहल न हो । स्थान स्वच्छ और साफ हो, अधिक सजावट न हो ।
(५) नियमितता—स्वाध्याय मे एक दिन का भी अन्तर न पडे, स्वाध्याय प्रतिदिन नियम से करना चाहिए ।
(६) स्वाध्यायी को अपना लक्ष्य आत्मोन्नति रखना चाहिए, विषय-वासना, सासारिक भोग, प्रसिद्धि आदि की इच्छा न करे ।
(७) दृढ विश्वास—यह दृढ विश्वास रखे कि मेरी आत्मोन्नति अवश्य होगी । मेरी आत्मा की निरन्तर उन्नति हो रही है, ऐसी भावना भी रखे ।
इन सामान्य नियमो के पालन से स्वाध्यायी का जीवन चमक उठेगा, उसकी आत्मा अलौकिक आलोक से जगमगा उठेगी । □

साधु के २७ गुण

१	पाणइवायाओ वेरमण	सर्वथा हिंसा का त्याग
२	मुसावायाओ वेरमण	सर्वथा मृषावाद-झूठ का, ३ करण ३ योग से त्यागी होना
३	आदिण्णादाणाओ वेरमण	सर्वथा अदत्त ग्रहण का त्याग।
४	मेहुणाओ वेरमण	सर्वथा मैथुन सेवन का त्याग।
५	परिग्गहाओ वेरमण	सर्वथा परिग्रह का त्याग।
६	सोइंदियणिग्गहे	श्रोत्र इन्द्रिय को वश मे रखना।
७	चक्खुइन्दियणिग्गहे	चक्षु इन्द्रिय को वश करना।
८	घाणिंदियणिग्गहे	घ्राण इन्द्रिय को वश करना।
९	जिब्भिंदियणिग्गहे	रसना इन्द्रिय को वश करना।
१०	फासिंदियणिग्गहे	स्पर्श इन्द्रिय को वश करना।
११	कोहविवेगे	क्रोध का त्याग करना, जीतना।
१२	माणविवेगे	मान को जीतना।
१३	मायाविवेगे	माया-कपट नहीं करना।
१४	लोहविवेगे	लोभ का त्याग करना।
१५	भावसच्चे	विचारो की शुद्धि।
१६	करणसच्चे	प्रतिलेखना आदि क्रियाएं उपयोग पूर्वक करना।
१७	जोगसच्चे	मन-वचन-काय योग की सत्यता।
१८	क्षमा	सहिष्णुता।
१९	विराग	वैराग्य भाव।
२०	मणसमाहारणया	मन की शुभ प्रवृत्ति।
२१	वयसमाहारणया	वचन की शुभ प्रवृत्ति।
२२	काय समाहारणया	काय की शुभ प्रवृत्ति।
२३	णाण सपण्णया	ज्ञान सपन्नता।
२४	दसण सपण्णया	दर्शन सपन्नता।
२५	चरित्त सपण्णया	चारित्र-शुद्धि चारित्र का पालन।
२६	वेयण अहियासणिया	शारीरिक वेदना को समभाव से सहना।
२७	मारणांतिय अहियासणिया	मृत्यु समय मे होने वाले कष्टो को शांति से सहना।